आचार्य उत्पलदेव कृत

ईश्वर - प्रत्यभिज्ञा

के श्लोकों का हिन्दी अनुवाद

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा - चन्द्रिका

-: अनुवादिका एवं सम्पादिका :-

प्रभा देवी

-: प्रकाशक :-

काश्मीर शैव त्रिक-मठिका (न्यास)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा दर्शनशास्त्र की रचना श्रीमान उत्पलदेव जी ने की है। इस पुस्तक में उन्होंने अनुभव के आधार पर सततर्क के द्वारा यह सिद्ध किया है कि भगवानसभी चराचर में विद्यमान है किन्तु मोह के कारण प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते। भगवान के शक्तिपात से यदि मोह दूर हो जाए तो भगवान का अनुभव होता है। अनुभव होने के समय साधक को यह प्रत्यक्ष हो जाता है "मेरा तो यही स्वरूप है। मैं अभी तक कहाँ भटक रहा था।" इसी को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

स्वयं उत्पलदेव जी ने इस की टीका भी की है जिसका नाम "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी" है। उत्पलदेव जी के शिष्य आचार्य अभिनव गुप्त हुए। उन्होंने जब इस पुस्तक को देखा तो उन्होंने भी इस पर विमर्श किया, जिसका नाम ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी है।

इसी पुस्तक के आधार पर स्वामी जी ने इन श्लोकों

का अर्थ किया है। जिसका नाम हमने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा चंद्रिका रखा है। यही पुस्तिका विद्वानों के हितार्थ मुद्रित हुई है।

इस दर्शन शास्त्र के चार अधिकार हैं।

१. ज्ञानाधिकार
२. क्रियाधिकार
३. आगमाधिकार
४. संग्रहाधिकार

ज्ञानाधिकार और क्रियाधिकार के सम्पूर्ण श्लोकों का अर्थ इस पुस्तिका में है। आगामाधिकार के केवल छः श्लोकों का अर्थ है।

गुरूदेव ने प्रथम दो अधिकारों के मंगलाचरण श्लाकों का अर्थ नहीं किया है। केवल आगमाधिकार के मंगलाचरण श्लोक का ही अर्थ किया है। जो इस पुस्तिका में सम्मिलित किया गया है। ये सभी मंगलाचरण श्लोक अभिनव गुप्त जी के हैं।



प्राक्कथन

पूर्व स्मृति की प्रत्यभिज्ञा होने पर भी मस्तिष्क प्रफुलित हो जाता है। हमें (सुश्री शारिका जी तथा मुझे) पूज्य गुरुदेव के सामीप्य में रहकर ई० सन् १९६२ में ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। गुरुदेव प्रात: पाँच बजे से सात बजे तक हमें कश्मीरी भाषा में इस गहन किन्तु हृदयग्राही शास्त्र को पढ़ाते थे। मैं अपनी बालसुलभ हिन्दी भाषा में केवल सूत्रों के अनुवाद कर लेती थी।

एक वर्ष यही नियम चलता रहा। न जाने किस कारण वश गुरुदेव ने कुछ समय के बाद इस नियम को स्थगित कर दिया। फल यह हुआ इस ग्रन्थ के कई श्लोकों का अर्थ न हो सका। अत: उन श्लोकों का अध्ययन करने वाले विज्ञजन स्वयं भी समझ सकेंगे। ऐसी आशा है।

फिर लगभग दस वर्षो के बाद मैंने एक दिन गुरुदेव के सम्मुख साहस करके इस कार्य को लिखित रूप में दिखाया। महाराज जी अति प्रसन्न हुए।सम्पूर्ण सूत्रों के अनुवाद को बड़ी तन्मयता से पढ़कर मुझे कहा इस सुन्दर प्रयास को तुम अब

पंडित बलजीनाथ जी को दिखाओ। वे इस ग्रन्थ के पारखी हैं।" कुछ समय के बाद श्री बलजीनाथ जी स्वामी जी से मिलने आये। गुरुदेव ने मुझे आज्ञा दी कि मैं बलजीनाथ जी को अनुवाद की कॉपी दिखा दूँ ताकि वे उसका संशोधन कर दें। बलजीनाथ जी ने एक सप्ताह में उसका संशोधन करके पुस्तिका लौटा दी। गुरुदेव ने उसे पुन: बाँचा तथा कहीं-कहीं पर कुछ श्लोकों के अर्थ को सहज रूप में सुलझाया। फल यह हुआ कि यह अनुवाद गुरुदेव के हाथों में आकर गौरवान्वित हो गया। जैसा कि मैंने पहले बताया, स्वामी जी के अनायास ही इस ग्रन्थ के शिक्षण कार्य को स्थगित करने के कारण, इस ग्रन्थ के ४३ श्लोकों की व्याख्या नहीं हो सकी। अत: प्रस्तुत पुस्तक में वह ४३ श्लोक नहीं है।

कश्मीर की आन्तरिक उथल-पुथल में घाटी को छोड़ते समय, मैं अपने साथ जितनी पुस्तकें तथा अनुवाद किए हुए पृष्ठों को ला सकी, ल आई।

अनेक वर्षो तक यह सब निधि मेरे पास इधर-उधर बिखरे परिवेश में ही रही। अब २०१७ में सुश्री सुमति सोपोरी जी के अथक प्रयास से, इन पृष्ठों का संकलन पुन: हो पाया। उन्होंने इसे एक पाण्डुलिपि क़ा रूप दिया। मेरा हार्दिक

आर्शीवाद सदा उनके साथ हैं।

अकस्मात् ही मुंबई से मेरे पास योगेन्द्र तिकू (योगी जी) आ गए। मैंने उनको भी यह पाण्डुलिपि दिखाई तथा उन्होंने भी इसमें अपना श्रमिक योगदान दिया। उन पर गुरुकृपा सदा बनी रहे। यही आशीर्वाद है।

गुरुकृपा अवगाहिनी
प्रभा देवी
२०१७
फरीदाबाद





विषय सूची

श्री महामहेश्वराचार्य
श्रीमदुत्पलदेवविरचिता
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा - चंद्रिका

ज्ञानाधिकारः



अथ प्रथममाह्निकम्



कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्।
समस्त संपत्समवाप्ति हेतुं
तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि॥१॥

पुरुष - प्रयत्न का आश्रय न लेकर किसी अलौकिक शक्ति-पात-क्रम से ही महेश्वर के स्वरुपसमावेशात्मक दासत्व को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करके, लोगों में तत्वितरणात्मक उपकार की इच्छा रखता हुआ (मैं उत्पलदेव), सभी संपदाओं का एक-मात्र कारण बनी हुई परमेश्वर की प्रत्यभिज्ञा (आत्माभिमुख ज्ञान) को (इस शास्त्र में) सिद्ध करूँगा। अर्थात् मनुष्यों को अपने स्वात्मस्वरूप की पहचान कराने का प्रयत्न करूँगा।

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।। २।।

जो करने वाला है, जो जानने वाला है, जो स्वात्मस्वरूप है, (ऐसे) आदि सिद्धमहेश्वर के होने में, कौन चेतना पुरुष अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति "महेश्वर नहीं है या है"- इस प्रकार का विधिनिषेध कर सकता है। अर्थात् ईश्वर को सिद्ध करना और उसका निषेध करना असंभव है, कारण यह कि जो ईश्वर को सिद्ध करता है अथवा असिद्ध करता है, वही तो स्वयं सिद्ध ईश्वर है, अर्थात सिद्धकरने वाला अथवा असिद्ध करने वाला प्रमात्मा ही स्वयं ईश्वर है।

किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेअप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।। ३।।

किन्तु उस (आत्मस्वरूप) के साक्षात् ज्ञात होने पर भी, मोह के कारण उसकी पारमार्थिक परमेश्वरता की अभिव्यक्ति के न होने पर, उसकी ज्ञान - शक्ति और क्रिया-शक्ति का आविष्कार करने के द्वारा यह प्रत्यभिज्ञा (नामक - शास्त्र) प्रकट किया जाता है। अर्थात इस शास्त्र की रचना की जाती है।

तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।। ४।।

स्मरण रहे कि जड़ वर्ग की प्रतिष्ठा अर्थात् अस्तित्व तो चेतन व्यक्ति के अधीन होती है और चेतन प्राणियों का जीवन, ज्ञान और क्रिया माना गया है। अर्थात चेतन व्यक्ति की चेतनता ज्ञान और क्रिया से ही मानी जाती है।

तत्र ज्ञानंस्वतः सिद्धं क्रिया कायाश्रिता सती।
परैरप्युपलक्षेत तयान्यज्ञानमूह्यते।। ५।।

उन में से ज्ञान तो स्वयं सिद्ध होता है। क्रिया भी वैसे ही स्वयं सिद्ध है। (किंतु) शरीर का आश्रय लेने पर अर्थात् आने जाने आदि का स्पन्दन करने पर, अन्य जनों के द्वारा भी उपलक्षित होती है। वे उसकी क्रिया को समझते हैं (और साथ ही) उस क्रिया के द्वारा (उस व्यक्ति के) ज्ञान का भी उन्हें पता लगता है। भाव यह है - क्रिया के करने से ही व्यक्ति के हार्दिक ज्ञान का भी पता चलता है।

ज्ञानाधिकार का पहला
आह्निक समाप्त हुआ।



अथ द्वितीयमाह्निकम्



ननु स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकं परं पुनः।साभिलापं विकल्पाख्यम बहुधा नापि तदद्वयम्।। १।।

नित्यस्य कस्यचिद्द्रष्टुस्तस्यात्रानवभासतः। अहंप्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी।। २।।

पूर्व पक्षी कहता है - मैं प्रश्न करता हूँ- स्वलक्षण आभास से युक्त निर्विकल्प ज्ञान एक ही है। दूसरा शब्द व्यवहार से युक्त विकल्प ज्ञान तो बहुत प्रकार का होता है। वे दोनों प्रकार के ज्ञान नित्य अवस्थित रहने वाले किसी दृष्टा आत्मा के नहीं कहे जा सकते। (क्योंकि) वह आत्मा इन दोनों ज्ञानों में नहीं दिखाई देता। (''मैं खाता हूँ, मैं चलता हूँ'' इस प्रकार की) अहं प्रतीति भी शरीर-संतान, प्राण-संतान और बुद्धिसंतान में ही अवसित है। (अर्थात अहंप्रतीति का विषय शरीर आदि से अतिरिक्त कोई आत्मरूप वस्तु नहीं। अतः अहंप्रतीति से भी आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती) अहंप्रतीति तो शरीरनिष्ठ ज्ञान संतान, पुर्यष्ठकनिष्ठ ज्ञान संतति और प्राणनिष्ठ ज्ञानसंतति को सिद्ध करती है आत्मा को नहीं।

अथानुभवविध्वंसे स्मृतिस्तदनुरोधिनी।
कथं भवेन्न नित्यः स्यादात्मा यद्यनुभावकः।। ३।।

अब यदि तुम आत्मवादी कहोगे कि (पूर्व) अनुभव के नष्ट होने पर (पश्चात् प्रकट होने वाली) स्मृति उस अनुभव ज्ञान के पीछे चलने वाली (अर्थात् उस अनुभव के अनुसार ही प्रकट होने वाली) कैसे बनती, यदि अनुभव करने वाला नित्य न होता।

भाव यह है कि जब तक आत्मा को नित्य न माना जाये तब तक भूतकालीन सभी अनुभूत वस्तुओं को, स्मृति उन अनुभवों के ही अनुसार कैसे स्मरण कर सकेगी? (ऐसा यदि तुम कहोगे) :-

सत्याप्यात्मनि दृङ्नाशात्तदद्वारा दृष्टवस्तुषु।
स्मृतिः केन अथ यत्रैवानुभेवस्तत्पदैव सा।। ४।।

तो भला, आत्मा के होने अर्थात् माने जाने पर भी अनुभव के नष्ट हो जाने पर उस (अनुभव) के द्वारा, अनुभूत वस्तुओं के विषय में होने वाली स्मृति किसके द्वारा उत्पन्न हो सकती है? अब यदि तुम आत्मवादी कहोगे - जिस आत्मा नामक आधार पर अनुभव ठहरा था, उसी आत्मा नामक

आधार पर अब स्मृति भी ठहरी हुई है, (इसी से वह पूर्व और वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ सकती है) और जो ही विषय अनुभव-ज्ञान का आलम्बन बना था, वही तो अब स्मृति का भी आलम्बन बन रहा है -

यतो हि पूर्वानुभवसंस्कारात्स्मृति संभवः।
यद्येवमन्तर्गडुना कोऽर्थः स्यातस्थायिनात्मना।। ५।।

क्योंकि निश्चयात्मक रूप से पिछले अनुभव के संस्कार से ही तो स्मृति की उत्पत्ति हो जाती है। (तब फिर) यदि इसी संस्कार को मानने की ही बात सिद्ध है, तो मध्य में गडु की भाँति अवस्थित रहने वाले स्थाई आत्मा से क्या प्रयोजन है।

भाव यह है कि जब अनुभव संस्कार ही स्मृति का जनक माना गया, तो आत्मा को किस लिए मानें। आत्मा की सत्ता का स्वीकार करना तो निष्प्रयोजन ही बन जाता है।

ततो भिन्नेषु धर्मेषु तत्स्वरूपाविशेषतः।
संस्कारात्स्मृतिसिद्धौ स्यात्स्मर्ता द्रष्टेव कल्पितः।। ६।।

तब फिर भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कार आदि धर्मों के होते हुए भी, आत्मस्वरुप में किसी भी विशेषता के न

आने के कारण और (अनुभव) संस्कार से ही स्मृति की सिद्धि हो जाने पर (अर्थात् आत्मा की सहायता के बिना ही स्मृति से व्यवहार के चल जाने पर) अनुभव करने वाले (आत्मा) की भाँति स्मरण करने वाला (आत्मा) भी कल्पित ही है। (अर्थात् जिस भाँति अनुभव करने वाला ज्ञान से अतिरिक्त कोई नहीं, उसी प्रकार स्मरण करने और कराने वाला भी ज्ञान और संस्कार से अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं।)

ज्ञानं च चित्स्वरूपं चेत् तद् अनित्ये किमात्मवत्।
अथापि जड़मेतस्य कथमर्थप्रकाशिता।। ७।।

(ज्ञान चिद्रूप है या जड़ रूप)

यदि ज्ञान को चित् स्वरूप ही माना जाये, तो क्या वह अनित्य है अथवा आत्मा की भाँति नित्य है? अर्थात् जिस भाँति आत्मा को हमने चेतन होने के कारण नित्य सिद्ध किया, उसी भाँति यदि ज्ञान को भी चेतन रूप मानें तो वह भी नित्य ही सिद्ध होगा। (इस तरह से दो नित्य पदार्थों का गुण-प्रधान-भाव, आधार-आधेय भाव, आदि सम्बन्ध सिद्ध

हो नहीं हो सकता) अब यदि इस ज्ञान को जड़ ही मानें, तो वह पदार्थ को कैसे प्रकाशित कर पाएगा। (क्योंकि प्रकाशित करने की शक्ति अर्थात् वस्तु को आभासित करने की शक्ति जड़ में रहती ही नहीं।)

अथार्थस्य यथा रूपं धत्ते बुद्धिस्तथात्मनः।
चैतन्यं अजडा सैवं जाड्ये नार्थप्रकाशता।। ८।।

अब तुम आत्मवादी यदि कहोगे कि जैसे बुद्धि, प्रत्येक पदार्थ के रूप को प्रतिबिम्ब के आकार में अपने में धारण करती है, वैसे ही (वह बुद्धि) आत्मा की चेतनता को भी अपने में धारण करती है। (तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि) ऐसा कहने पर वह भी तो चेतन ही सिद्ध हो जाएगी। (अतः आत्मा की भाँति बुद्धि भी नित्य ही सिद्ध होगी।) यदि उसे जड़ ही माना जाए, तो वह पदार्थ को कैसे प्रकाशित करेगी।

क्रियायाप्यर्थस्य कायादेस्तत्तदेशादिजातता।
नान्याऽदृष्टेः न साप्येका क्रमिकैकस्य चोचिता।। ९।।

(अनात्मवादी इस उपरोक्त श्लोक द्वारा क्रिया - शक्ति को भी निष्प्रयोजन ही सिद्ध करता है।) क्रिया भी शरीर आदि पदार्थ की उस देश, काल, आकार, आदि रूप में

उत्पत्ति ही होती है। इस के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं। (कारण यह कि शरीर आदि और देश आदि से अतिरिक्त कोई भी क्रिया का आकार देखने में नहीं आता।) फिर वह क्रिया क्रमपूर्वक होने वाली और साथ ही एक रूप होने वाली नहीं हो सकती और न ही उसका एक आत्मा के साथ सम्बन्ध रखना ही उचित है।

भाव यह है कि तुम आत्मवादी जो यह कहते हो कि क्रिया शक्ति उसी प्रभु की शक्ति है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि एक तो प्रत्येक क्रिया क्रमिक होने के कारण अनन्तात्मक होती है। अत: एक रूप प्रभु की शक्ति होना उसके लिए कैसे उचित हो सकेगा। उस से वह प्रभु भी क्रमिक और अनन्तरूप बन जाएगा। अत: क्रिया शक्ति का मानना ही सर्वथा भूल है।

तत्र तत्र स्थिते तत्तदभवतीत्येव दृश्यते।
नान्यन्नान्योअस्ति संबन्धः कार्यकारणभावत:॥ १०॥

बीज आदि वस्तु के होने के अनन्तर, अंकुर आदि वस्तु देखने में आते हैं। इस से अतिरिक्त अन्य कोई भी उत्पाद्य-उत्पादक-भाव आदि संबंध देखने में नहीं

आता। अत: नियत पौर्वापर्य रूप कार्य - कारण भाव के अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्ध होता ही नहीं।

(भाव यह है - एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु होती है। दोनों स्वतंत्र होती हैं। एक दूसरे के आश्रित नहीं होतीं। उनका केवल एक कालिक क्रम ही होता है। उसी को कार्य-कारण भाव कहते हैं। उसे छोड़ कर और कोई भी संबंध कहीं होता ही नहीं। अत: ज्ञान और क्रिया शक्ति के सम्बन्ध से ज्ञातृत्व और कर्तृत्व, आत्मदेव का सिद्ध ही नहीं हो सकता।

द्विष्ठस्यानेकरूपत्वात् सिद्धस्यान्यानपेक्षणात्।
पारतन्त्रयाद्ययोगाच्च तेन कर्तापि कल्पित:।। ११।।

जो दो में ठहरता है वह अवश्य अनेक रूप वाला होगा। जो स्वयं सिद्ध है उसे और किसी ज्ञान और क्रिया - शक्ति की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका, ज्ञान अथवा क्रिया के अधीन होना युक्त नहीं है। - इत्यत: सिद्ध हुआ कि जैसे तुम्हारा ज्ञान - शक्ति - सम्पन्न आत्मा, कल्पित है, वैसे ही तुम्हारा क्रियाशक्ति - सम्पन्न कर्ता आत्मा, भी कल्पित ही है।

(इत्यत: ज्ञान-शक्ति के द्वारा और क्रिया - शक्ति के

द्वारा परमेश्वर रूप आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः जो युक्ति ''कर्तरि ज्ञातरि'' कारिका द्वारा कही गई है वह ठीक नहीं उतरती है।)

ज्ञानाधिकार का दूसरा आह्निक समाप्त हुआ।





अथ तृतीयमाह्निकम्



सत्यं किंतु स्मृतिज्ञानं पूर्वानुभव संस्कृतेः।
जातमप्यात्मनिष्ठं तन्नाद्यानुभववेदकम्।। १।।

आत्मवादी कहता है - तुम्हारा (पूर्व पक्षी का) कहना कई अंशों में सत्य है। किंतु स्मृति - ज्ञान पिछले (भूतकालीन) अनुभव - संस्कार से उत्पन्न होने पर भी अपने में ही अवस्थित है। अर्थात् दूसरे ज्ञान के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। (अतः) वह स्मृति - ज्ञान पूर्व अनुभव को जतलाने वाला नहीं बन सकता।

दृक्स्वाभासैव नान्येन वेद्या रूपदृशेव दृक।
रसे संस्कारजत्वं तु तत्तुल्यत्वं न तद्गति।। २।।

अनुभव-ज्ञान तो अपने ही आभास से संयुक्त होता है, अर्थात् अपनी स्थिति को स्वयमेव जतलाता है। वह अन्य दूसरे का वेद्य नहीं बनता है। अर्थात अनुभव - ज्ञान स्वप्रकाश ही है, अतः स्मृति उसे नहीं जतला सकती। जैसे रूप-ज्ञान से रस-ज्ञान का पता नहीं चलता (वैसे ही स्मृति-ज्ञान से अनुभव का ज्ञान नहीं हो सकता।) स्मृति के अनुभव -

संस्कार से उत्पन्न होने से तो इतनी ही बात बनती है कि स्मृति, अनुभव के सदृश हुआ करती है; उससे अनुभव का ज्ञान नहीं होता।

भाव यह है कि स्मृति और अनुभव दो विभिन्न और स्वतन्त्र ज्ञान हैं। अनुभव के संस्कार से उत्पन्न होने वाली स्मृति, अनुभव के सदृश होती हुई भी, अनुभव ज्ञान को अपना विषय नहीं बना सकती, क्योंकि स्वप्रकाश - ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता।

अथातद्विषयत्वेअपि स्मृतेस्तदवसायतः।
दृष्टालम्बनता भ्रान्त्या तदेतदसमञ्जसम्।। ३।।

आत्मवादी से पूर्व पक्षी यह कहता है - अनुभव के उस स्मृति का विषय न बनने पर भी, विकल्प-ज्ञान के द्वारा अनुभव - ज्ञान स्मृति - ज्ञान का आलम्बन बनता हुआ जो देखने में आता है, वह भ्रांति से होता है।

इस पर आत्मवादी कहता है कि तुम्हारा ऐसा कहना भी सर्वथा अनुचित है।

स्मृतितैव कथं तावदभ्रान्तेश्चाकर्थस्थिति: कथम्।
पूर्वानुभवसंस्कारापेक्षा च किमितीष्यते।। ४।।

(जब स्मृति, पूर्व अनुभव को अपना विषय नहीं बनाती, तो अनुभूत विषय को भी नहीं जतला सकती।) अनुभूत वस्तु के असंप्रमोष के कारण उसे कैसे स्मृति कहा जाए। फिर यदि वह भ्रान्ति रूप है, तो उससे व्यवहार की व्यवस्था कैसे होते बने? साथ ही उस भ्रान्ति रूप स्मृति को पिछले अनुभव की अपेक्षा (आवश्यक्ता) किस लिए रहेगी।

भ्रान्तित्वे चावसायस्य न जडाद्विषयस्थितिः।
ततोअजाड्ये निजोल्लेखनिष्ठानार्थस्थितिस्ततः।। ५।।

स्मृति रूप अध्यवसाय (सविकल्प ज्ञान) यदि भ्रान्ति है तो उस जड़ अध्यवसाय द्वारा व्यवहार की व्यवस्था नहीं हो सकती। अर्थात् भ्रान्ति रूप होने के कारण, वह स्मृति रूप विकल्प, विषय के अंश में जड़ होता हुआ व्यवहार की व्यवस्था नहीं करा सकता। (ज्ञान रूप अंश में तो उसे चेतन ही मानना पड़ेगा) तो यदि उसे चेतन माने तब भी अपने ही स्वरूप में ही सीमित होने के कारण उससे व्यवहार की व्यवस्था नहीं हो सकती।

भाव यह है कि अंशतः चेतन होता हुआ भी वह स्मृति-ज्ञान केवल अपने स्वरुप को ही जानता है। अतः

अनुभव-ज्ञान और अनुभूत विषय को न जानता हुआ संसार के व्यवहार का व्यवस्थापक नहीं बन सकता।

एवमन्योन्यभिन्नानाम परस्पर वेदिनाम
ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्तेज्जनस्थिति:॥६॥

अत: सिद्ध यह हुआ कि स्मृति को इस प्रकार की भ्रान्ति मानने पर (और भिन्न भिन्न ज्ञानों को परस्पर जोड़ने वाले आधारभूत, स्वतन्त्र और ऐश्वर्यवान् आत्मा की सत्ता का निषेध करने पर,) एक दूसरे से भिन्न तथा एक दूसरे को न जानने वाले अनुभव, विकल्प, स्मृति प्रत्य-भिज्ञा, आदि सभी ज्ञानों के परस्पर एकीभावात्मक अनुसंधान से ही जीवित रहने वाली लोक व्यवहार की व्यवस्था नष्ट, हो जाती - इस श्लोक का सम्बन्ध अगले श्लोक के साथ है।

भाव यह है कि जब स्मृति, अनुभव आदि ज्ञानों को अपनी अपनी जगह ही मानें तथा, वे एक दूसरे से सर्वथा सम्बन्धहीन हों, तो सारा लोक-व्यवहार एक दम टूट जाता। किसी भी व्यक्ति को पूर्वापरानुसन्धान का ध्यान न रहता।

न चेदन्त:कृतान्तृविश्वरूपो महेश्वर:।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहन शक्तिमान्॥७॥

यदि ज्ञान, स्मृति तथा अपोहन नामक शक्तियों का स्वामी, अपने ही स्वरूप में आत्मरूपतया ठहराये हुए जगत् से संपन्न स्वरूप वाला एक मात्र, चित् स्वरूप, महेश्वर न होता।

भाव यह है कि समस्त व्यवहार के एक मात्र आधार बने हुए इस प्रकार के सर्वशक्तिमान और पूर्ण स्वतन्त्र परमेश्वर के होने से ही, सांसारिक व्यवहार की व्यवस्था होती है। अत: उसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता।

ज्ञानाधिकार का तीसरा आह्निक समाप्त हुआ





अथ चतुर्थमाह्निकम्



**स हि पूर्वानुभूतार्थोलब्धा परतोऽपि सन्।
विमृशन्स इति स्वैरी स्मरतीत्यपदिश्यते ॥१॥**

पिछले अनुभव के द्वारा अनुभूत विषय का अनुभव करने वाला होकर भी वह स्वतन्त्र प्रमाता स्मृति के समय भी विद्यमान रहता हुआ जब (उसी अनुभूत वस्तु का पुन:) ''वह था'' इस प्रकार से विमर्श करता है, तो कहा जाता है कि यह स्मरण कर रहा है।

भाव यह है कि प्रमाता जब पूर्व अनुभूत वस्तु को पुन: इस प्रकार से विमर्श में लाता है कि ''वह ऐसा था'' तो उस दशा में, व्यवहार में यही आता है कि यह अमुक वार्ता को याद कर रहा है। इस भाँति उसे उस समय स्मरण करने वाला (स्मर्ता) कहा जाता है।

**भासयेच्च स्वकालेऽर्थात्पूर्वाभासितमामृशन्।
स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना॥२॥**

स्मृतिकाल में निश्चित समझिए कि वह स्वतंत्र प्रमाता अनुभव काल में जाने हुए स्वरूप संकुचित (अपने में ही

सीमित) विषय का पुनः विमर्श करता हुआ, उसे केवल सामान्य घटादि रूप में तथा समस्त विशेषताओं से विशिष्ट रूप में प्रकट करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्र प्रमाता ही स्मरणकाल में तथा पूर्वानुभव काल में भी विद्यमान है, इसी से तो वह पूर्वानुभवकालीन पदार्थों को स्मरण काल में यथार्थरूपता से प्रकट करता है।

नच युक्तं स्मृतेर्भेदे, स्मर्यमाणस्य भासनम्।
तेनैक्य भिन्नकालानां संविदां वेदितेष सः॥३॥

स्मृति-द्वारा स्मरण किए जाते हुए विषय का उस स्मृति-ज्ञान से भिन्न रूप में ठहरते हुए आभासित होना युक्तियुक्त नहीं। उस तरह से तो उसे स्मर्यमाण कहा ही नहीं जा सकता। अतः भिन्न-भि[illegible] देश, काल तथा आकार में ठहरी हई ज्ञान-संततियों की जो एकानु-संधानात्मिका स्थिति है, वही यह जानने वाला वेदक प्रमाता है।

(इस श्लोक में ''सः एष'' पद प्रत्यभिज्ञा का द्योतक है।) यतः यहाँ पूर्वानुभवकालीन पदार्थों का आभास

इदानीन्तन स्मरण-काल में होता है - इसी का नाम एकानुसंधानात्मिका प्रत्यभिज्ञा है।

नैव ह्यनुभूवो भाति स्मृतौ पूर्वोर्थवत् पृथक।
प्रागन्वभूवमहमित्यात्मा रोहणेभासनात्।।४।।

जिस भाँति अनुभवकाल में घटादि विषय भिन्न रूप में अर्थात् अनुभव काल के देश, काल और आकार से सम्मिलित विषय रूप में दिखाई देता है, उस भाँति स्मृति-काल में नहीं दिखाई देता। स्मृति काल में व्यक्ति इस प्रकार से परामर्श करता है:-

"पीछे, अनुभव-काल में मैंने (अमुक पदार्थ का) अनुभव किया था।" यह परामर्श अहं रूप आत्मा परं आरूढ़ होकर ही प्रकट होता है, अर्थात् आत्मा ही पूर्वकालिक अनुभवज्ञान और वर्तमान-कालिक स्मृति-ज्ञान का एक मात्र अभेदरूपता से अनुसंधान करता है।

योगिनामपि भासन्ते न दृशो दर्शनान्तरे।
स्वसंविदेकमानस्ता भान्ति मेयपदेऽपि वा।।५।।

योगियों को भी परचित्तज्ञान रूप विशेष ज्ञान में दूसरों

के ज्ञान विषय रूप में नहीं दिखाई देते। वे परचित्त ज्ञान उन्हें अपनी संवित् के साथ उनकी एकता को प्राप्त होते ही प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य प्राणियों के ज्ञान, योगियों को अपने ही प्रतीत होते हैं अर्थात उन दूसरों के ज्ञानों को अपने मे वह योगी साक्षात्कार करता है।

भाव यह है कि योगी भेदाभेद दशा के आवेश द्वारा ही दूसरों के ज्ञान को जानता हुआ उसे विषय रूप में नहीं जानता। फिर यदि विषय रूप में जानता है, ऐसा माना भी जाए, तो वह अनुभव ही होगा, स्मरण नहीं। स्मृति तो सदैव अभेद भाव से ही प्रकट होती है।

स्मर्यते यद्दृगासीन्मे सैवमित्यपि भेदतः।
तद्व्याकरणमेवास्या मया दृष्टमिति स्मृतेः॥६॥

"मैंने पूर्वकाल में अनुभव किया था," "वह यही है" इस प्रकार जो यह भेदपूर्वक अर्थात प्रमाता से भिन्न रूप में ठहरे हुए, उसके अनुभव का स्मरण किया जाता है, वह तो "मैंने देखा था" इस प्रकार की स्मृति के परामर्श की व्याख्या ही है।

भाव यह है कि स्मृति-काल में व्यक्ति "वह था, यह

था'' आदि जितने भी प्रकार के ऐसे परामर्श भेदभाव से प्रकट करता है, उन सब का समाप्ति अथवा विश्रान्ति ''मैंने जाना'' इस अभेदात्मक परामर्श में ही होता है। कारण यह कि स्मृति-काल में व्यक्ति ''मैंने देखा इस प्रकार के परामर्श के आधार पर ही सभी प्रकार के परामर्श करता है।''

या च पश्याम्यहमिमं घटोऽयमिति वाऽव सा।
मन्यते समवेतं साप्यवसातरि दर्शनम्॥७॥

जो निश्चयात्मक बुद्धिरूप विकल्प-ज्ञान ''मैं इसे देखता हूँ'' इस प्रकार से ग्राहक प्रतीति रूप है, और जो यह घर है? इस प्रकार से ग्राहक-प्रतीति रूप हैं, वह विकल्प बुद्धि भी निश्चय करने वाले प्रमाता में नित्य सम्बन्ध से ठहरे हुए ज्ञान को ही दिखाती है अर्थात् सिद्ध करती है।

तन्मया दृश्यते दृष्टोऽयं स इत्यामृशत्यपि।
ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि॥८॥

अतः जब प्रमाता (अनुभव काल में) ''मैं देखता हूँ''। इस रूप में या ''यह है''इस रूप में तथा (स्मृति काल में) ''मैंने देखा'' इस रूप में या ''वह था'' इस रूप में विमर्श करता है,

तो सिद्ध हुआ कि ग्राह्यतया तथा ग्राहकतया जो दो भिन्न भिन्न पदार्थ प्रतीत होते हुए वे दोनों प्रमाता में ही प्रतीत होते हैं भाव ये है कि प्रमाता अनुभव तथा स्मृति दोनों का प्रमातृप्रधानतया या प्रमेयप्रधानतया सभी प्रकार से स्वयं परामर्श करता है। अत: उसमें दोनों प्रकार की प्रतीतियाँ अवस्थित हैं इन दोनों प्रतीतियों में वही स्वयं अभिन्न और अद्वैत स्वरूप होकर ठहरा हुआ है।

ज्ञानाधिकार का चौथा आह्निक समाप्त हुआ।





ज्ञानाधिकार निरूपाणारव्यं पंचमाह्निकम्

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।। १।।

प्रवर्तन में आए हुए अवभासात्मक पदार्थो का दिखाई देना बाह्य रूप से (तभी) सिद्ध होता है (जब कि वह) अन्तरात्मा में ठहरे ही होते हैं।

भाव यह है कि ये सभी घट पट आदि पदार्थ समूह, स्वात्म संवित्ति के भीतर पहले ही अवस्थित हैं तभी तो बाह्य रूप में प्रकट होकर प्रकाशित होते हैं।

प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्प्रकाशात्मतया विना।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता।। २।।

आन्तरार्थवादी कहता है प्रकाशरूपता को छोड़कर घटादि पदार्थ जिस प्रकार से पहले भी प्रकाशित नहीं था उसी प्रकार प्रकाशरूपता को छोड़कर पीछे भी अप्रकाशमान ही है।

दूसरी बात यह है कि प्रकाश (घट पट-आदि प्रकाश)

से भिन्न नहीं है। पदार्थों का प्रकाश ही आत्मा है अथवा पदार्थों का जीवन प्रकाश है।

भाव यह है कि घट पट आदि सभी विषय प्रकाशात्मक ही हैं और वह प्रकाश एकमात्र अद्वितीय है।

भिन्ने प्रकाशे चाभिन्ने संकरो विषयस्य तत।
प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो ना प्रकाशश्च सिध्यति।। ३।।

प्रकाश को यदिस्वरूपतः एक तथा अभिन्न माना जाए और पदार्थो से उसे भिन्न ठहराया जाए, तो विषय अर्थात् पदार्थो का पारस्परिक संकर होगा। अतः पदार्थ प्रकाशात्मक होता हुआ ही प्रकाशित होने के योग्य हुआ करता है। अप्रकाश रूप होते हुए उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती।

तत्तदाकस्मिकाभासो बाह्यं चेदनुमापयेत्।
न ह्यभिन्नस्य बोधस्य विचित्राभासहेतुता।। ४।।

अन्तरार्थवादी सौत्रान्तिक के मत को ठहराते हुए कहता है कि तुम्हारे मत में यदि आकस्मिक आभासों के होने से बाह्यर्थ की स्थिति का अनुमान किया जाए, क्योंकि एक

मात्र अभिन्न बोध विचित्र आभासों का कारण नहीं बन सकता।

भाव यह है कि संवित एक ही है। यदि यह विचित्र घट पट आदि उसी में हैं तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है। अभिन्न बोध कैसे विचित्र आभासों का कारण हो सकता है। अतः अनुमान से सिद्ध है कि संवित्ति के बाहर पदार्थ ठहरे हुए हैं।

न वासना प्रबोधोऽत्र विचित्रो हेतुतामियात्।
तस्यापि तत्प्रबोधस्य वैचित्रये किं निबन्धनम्।। ५।।

उन आकस्मिक आभासों का कारण वासनाओं का प्रबोध वैचित्रय भी नहीं बन सकता है, क्योंकि वासनाओं के उस प्रबोध के वैचित्रय के होने में कारण ही क्या है।

स्यादेतदवभासेषु तेष्वेवावसिते सति।
व्यवहारे किमन्ये न बाह्येनानुपपत्तिना।। ६।।

(आन्तरार्थवादी अपना सिद्धान्त कहता है कि तुम्हारी शंकाओं पर मेरा यह उत्तर है) उस (संवित दर्पण में प्रतिबिम्ब) आभास रूप पदार्थो के द्वारा ही समस्त व्यवहार के ठीक तरह से चलने पर, अर्थात् उन्हीं से व्यवहार की

सिद्धिके हो जाने पर उपपत्ति से रहित बाह्यार्थ से क्या प्रयोजन है।

भाव यह है कि जब संवित में प्रतिबिम्बित पदार्थो से ही सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, तो बिम्ब रूप अन्य बाह्यार्थ को स्वीकार करने का प्रयोजन ही क्या है।

चिदात्मैव हि देवोऽन्त: स्थितमिच्छावशाद्बहि:।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।। ७।।

तत्वदृष्टि से पारमार्थिक सिद्धान्त यही है कि चिदात्मा परमेश्वर ही अन्तरात्मा में (संविद्रूपता में) स्थित पदार्थो को अपनी इच्छा से ही उपादान कारणों के बिना ही बाह्य जगत के रूप में योगी की भाँति प्रकट करता है।

भाव यह है कि जैसे सिद्ध योगी केवल अपनी इच्छा से ही अपूर्व वस्तु की रचना कर सकता है, वैसे ही यह संवित देव इन सभी पदार्थो को जो उसमें स्वभावत: अवस्थित ही हैं, अपनी स्वातन्त्रय शक्ति से बाह्य जगत के रूप में प्रकट करता है।

अनुमानमनाभातपूर्वे नैवेष्टमिन्द्रियम्।
आभातमेव बीजादेराभासाद्धेतु वस्तुन:।। ८।।

आभासः पुनराभासात् बाह्यास्यासीत्कचन चन।
अर्थस्य नैव तेनास्य सिद्धिर्नाप्यनुमानतः।। ९।।

अन्तरार्थवादी, बाह्यार्थवादी के सिद्धांत का खण्डन करते हुए कहता है - जो तुम्हारा बिम्ब रूप बाह्य पदार्थ है वह तो कभी भी कहीं भी प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता, अतः उस बिम्ब का अनुमान करना उचित नहीं। (कारण यह कि किसी पदार्थ का अनुमान तभी किया जा सकता है, जब उसको पहले कहीं प्रत्यक्ष द्वारा जाना गया हो। जैसे '' पर्वत में अग्नि जल रही है। इसका अनुमान धुएँ को देखने से तभी किया जाता है, जब पहले हम धुँए और अग्नि को रसोई आदि में देख चुके होते हैं किन्तु तुम्हारा बाह्यार्थ तो किसी ने कहीं भी, कभी भी देखा ही नहीं; फिर उसकी सिद्धि अनुमान से कैसे हो सकती है। यदि तुम पूछो कि इन्द्रिय को कभी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाना गया, तो उसका अनुमान कैसे हुआ करता है। इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय का अनुमान आभास के कारण के रूप में ही होता है। वह कारणता बीज आदि में प्रत्यक्ष जानी गई है। परन्तु आभास से बाहर रहने वाले अर्थात अनाभास वस्तु का किसी भी प्रकार से कभी भी आभास नहीं हुआ। अतः उस संवित् से बाहर ठहरी ही वस्तु की सिद्धि अनुमान से भी नहीं हो सकती।

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते।। १०।।

(इस) स्वामी चितात्मा को अपनी आत्मा में (संविदात्मकतया) ठहरे हुए पदार्थ समूह का आभास अवश्य होता ही रहता है। (क्योंकि) उस पदार्थ समूह के प्रकाशित होने के बिना पदार्थ समूह को बाह्य रूप में प्रकट करने की इच्छा का परामर्श सिद्ध ही नहीं हो सकता।

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थो परक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।। ११।।

(ज्ञानीजन) प्रकाश का स्वभाव विमर्श को मानते हैं। यदि प्रकाश का स्वभाव विमर्श नहीं होता, तो पदार्थों से उपरंजित होता हुआ भी प्रकाश स्फटिक मणि आदि की भाँति जड़ ही होता। भाव यह है - विमर्श ही प्रकाश की आत्मा है। यदि विमर्श न होता तो प्रकाश जड़ स्फटिक की भाँति अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थों को स्वयं समझ ही नहीं सकता।

आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता।
तात्पर्येणोदितस्तेन जड़ात्स हि विलक्षणः।। १२।।

इसी विमर्शन क्रिया रूप चेतना की कर्तृता ही के

अभिप्राय से गुरुओं ने आत्मा को ''चैतन्यं'' आदि भावत्रयप्रधान शब्दों से कहा है। तात्पर्य यह है कि चेतन रूप क्रिया ही चित्स्वातंत्रय कहलाता है। इसी से अर्थात् विमर्शात्मकता से ही यह सिद्ध हुआ कि वह (आत्मा) जड़ वस्तु से विलक्षण है। भाव यह है कि प्रकाश रूप आत्मा इसलिए चेतन है कि वह स्वभाव से ही विमर्शात्मक है।

चितिः प्रत्यवमर्शात्मापरा वाक्स्वरसोदिता ।
स्वातत्रयंमेतन्मुख्यं तदेश्वर्य परमात्मन ॥ १३ ॥

आत्म-परामर्श रूप चेतना को स्वयं अपने स्वातन्त्रय के आनन्द से उदित हुई परावाणी कहते हैं। ''यही'' वह स्वातन्त्रय है जो परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है।

इस श्लोक में भी प्रत्यभिज्ञा का परामर्श (एतत्) तत्) ''यही वह'' कह कर बतलाया गया है।

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकाला विशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥१४॥

वह चेतना एक प्रकार की स्फुरता है, देश काल की परिधि से रहित महासत्ता है। ''वही यह'' चेतना समस्त विश्व का सार है और इसीलिए उसे परमपद पर अवस्थित परम् शिव का

हृदय कहा गया है।

आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थिति।
ज्ञेय न तु तदौन्मुख्यात्खण्ड येतास्य स्वतन्त्रता।।१५।।

स्वातन्त्रया मुक्तात्मानं स्वातन्त्रयादद्वयात्मनः।
प्रभुरीशादि संकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ।।१६।

यह परमेश इस अपने स्वात्म-परामर्श से ही अपने आप को ज्ञेय बनाता है। अर्थात् अपने वेदक स्वरूप को वेद्य रूप में प्रकट करता हुआ ज्ञेय दशा में मानो ठहराता है। भिन्न स्थिति से युक्त अर्थात् संवित् स्वरूप से ज्ञेय भिन्न वस्तु इस आत्मा को ज्ञेय नहीं बनाता। यदि ज्ञेय वस्तु उस आत्मा को ज्ञेय बनाता तो उसके प्रति उन्मुख होने से इस परमेश्वर का स्वतन्त्रय खण्डित हो जाता।

सिद्धान्त यही है कि परमेश्वर अपने स्वातन्त्रय से सदा अवियुक्त रहने वाले अपने आप को ही अद्वैत्पर शिवात्मक अपने ही स्वातन्त्रय से ईश्वर, शिव, प्रमाता, इत्यादि नाम रूप संकल्पों द्वारा उस उस नाम रूप में रचना करके व्यवहार करवाता है।

भाव यह है कि परमेश्वर अपने स्वातन्त्रय से ही शिव, ईश्वर आदि नाम-रूपों का संकल्प करता हुआ अपने सतत्-स्वतन्त्र स्वरूप का ही उस उस रूप में निर्माण करके तदनुसार व्यवहार करवाता है।

नाहन्तादिपरामर्शभेदादस्यान्यतात्मनः।
अहंमृश्यतयैवास्य सृष्टेस्तिङ्वाच्यकर्मवत्॥॥१७॥

(उपदेश आदि अवसर पर कल्पित शब्दों द्वारा कहे जाते हुए) अत एवं सृज्यमान बनते हुए इस आत्मा का अहंता आदि (नामों के) परामर्श भेद से भेद नहीं होता। अर्थात् यदि ईश्वर, शिव, पति, आदि भिन्न भिन्न नामों से संवित का परामर्श किया जाए तो भी इस से संवित में भेद नहीं आता, अपितु इन ईश्वर, शिव आदि नामों में इसकी अहंपरामर्शता ही सिद्ध होती है। कारण यह कि ईशनशीलता आदि स्वभाव अहंरूप संवित् तत्त्व के ही होते हैं।

जिस भाँति 'पचति' (पकाता है) शब्द से कहे जाने वाली पकाने की क्रिया को यदि 'पाक' (पकाने का काम) शब्द से भी कहा जाए, तो भी तात्पर्य में कोई भेद नहीं पड़ता, उसी भाँति यहाँ भी परिपूर्ण अहंरूप संवित् को ईश्वर, शिव,

भगवान, आदि शब्दों द्वारा कहे जाने पर तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं आता। कारण यह कि तथ्यत: ईश्वर आदि शब्दों के तात्पर्य का भी परिपूर्ण अहं विमर्शन ही स्वरूप होता है।

मायाशक्तया विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥ १८॥

प्रभु की स्वातन्त्रय-शक्ति के द्वारा वही विमर्शशक्ति विभिन्न संबेध (पदार्थ) को अपना विषय बनाती हुई ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय, आदि नामों से कही गई है। भाव यह है कि ये सभी नाम चितिशक्ति के ही नामान्तर हैं, क्योंकि परमेश्वर के स्वातन्त्रय की महिमा से वह चितिशक्ति विविध प्रकार से प्रमेयोन्मुख बनती हुई चमकती रहती है।

साक्षात्कारक्षणेऽप्यस्ति विमर्शः कथमन्यथा।
धावनाद्युपपद्येत प्रतिसंधानंवर्जितम् ॥१९॥

निर्विकल्प साक्षात्मकार - क्षण में भी विमर्श होता ही रहता है, अर्थात् वहाँ भी चित्ति का स्वभाव विमर्शात्मक ही हुआ करता है। यदि निर्विकल्प क्षण में विमर्श नहीं होता तो अनुसंधान से रहित दौड़ना आदि सिद्ध कैसे होता।

भाव यह है कि बहुत तीव्र-गति से दौड़ना आदि कार्यों में प्रति-क्षण अनुसंधान तो अत्यन्त आवश्यक होता है। उसके बिना ये क्रियाएँ हो नहीं सकती। वहाँ स्फुट विकल्पात्मक अनुसंधान तो होता नहीं। अत: वहाँ निर्विकल्पक अनुसंधान का होना आवश्यम्भावी है। इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान के क्षण में भी चिति का स्वभाव विमर्श ही होता है। क्योंकि विमर्श ही अनुसन्धान का रूप धारण कर सकता है।

घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी।
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया।।२०।।

'यह घड़ा है' इस प्रकार का यह अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान भी ''घड़ा'' इस नाम तथा ''अयं'' इस प्रकार से निर्दिश्यमान घड़े के आकार से उत्तीर्ण परमेश्वर की संविदात्मक शक्ति ही है और वह अहंरूप आत्मा की भाँति ही दिखाई देती है, - इदंता अर्थात् वेद्यता से नहीं प्रकाशित होती।

भाव यह है कि प्रत्येक विकल्प, ज्ञान भी प्रमाता के प्रकाश के रूप में ही अपनी स्थिति से युक्त होता है प्रमेय रूपता से तो उसकी स्थिति ठहर ही नहीं सकती। अर्थात् घट-पट इत्यादि सभी व्यवहारों में प्रभु की स्वातन्त्रय शक्ति

अहंरूपता से ही ठहरी रहती है और इदन्ता से नहीं।

केवलं भिन्नसंवेद्यदेशकालानुरोधतः।
ज्ञानस्मृत्यवसायादि सक्रम प्रतिभासते।।२१।।

यद्यपि सभी पदार्थ संवित रूप ही है - फिर भी भिन्न रूप में जाने जाते हुए देश तथा काल के सम्बन्ध के बल से अर्थात् इनकी अपेक्षा से युक्त होने के कारण ज्ञान, स्मृति तथा अध्यवसाय आदि क्रमरूपता से युक्त होते हुए प्रतीत होते हैं।

ज्ञानाधिकार का ज्ञानशक्ति निरूपण नामक पाँचवा आह्निक समाप्त हुआ।





अथ ज्ञानाधिकारे ज्ञानशक्तिनिरूपणाख्यं षष्ठमाह्निकम्

अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः॥१॥

प्रकाश का आत्मा बना हुआ जो अहंपरामर्श है, वह अभिलाषात्मक वाणी के रूप को धारण करता हुआ भी विकल्पात्मक नहीं होता है, क्योंकि उस विकल्प को तो दो (घड़ा और घड़े से अन्य) वस्तुओं का आक्षेप करने वाला और फिर किसी एक वस्तु का निश्चय करने वाला माना गया है।

भिन्नयोरवभासो हि स्यादघटाघटयोर्द्वयो।
प्रकाशस्येव नान्यस्य भेदनस्त्ववभासनम्॥२॥

विकल्प में तो दो भिन्न वस्तुओं अर्थात् घड़े और घड़े से अन्य वस्तु का अवभास होता है, परन्तु अहं विमर्श में तो प्रकाश से अतिरिक्त किसी दूसरी प्रकाश तुल्य और भेदरूप वस्तु का प्रकाशन होता ही नहीं।

तदतत्प्रतिभाभाजा मात्रैवातद्व्यपोहनात्।
तन्निश्चयनमुक्तो हि विकल्पो घट इत्ययम्।।३।।

उस घट की तथा अघट की प्रतिभा अर्थात् आभास का सेवन तो प्रमाता के द्वारा होता है। फिर उसी के द्वारा अघट का अपोहन करने से ''घड़ा है'' इस प्रकार से घडे का निश्चय किया जाता है। अत: ''यह घड़ा है'' इस प्रकार का ज्ञान विकल्प ही है। भाव यह है- जहाँ ''वह'' तथा ''उस से अन्य'' इस प्रकार के दो आभासों की अपेक्षा अवश्य ही रहती है, उसे ही विकल्प कहते हैं। शुद्ध ''अहं'' में ऐसी अपेक्षा नहीं रहती, अत: अहं प्रत्यवमर्श, विकल्पात्मक नहीं होता।

चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति य:।
देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा।।४।।

प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात्।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासज:।।५।।

जब चित्स्वरूप अपनी मायाशक्ति अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को छोड़कर अर्थात् उसे छिपा कर प्रकाश से भिन्न और कल्पना से कल्पित देह, बुद्धि, प्राण और शून्य के रूप में ही अहमात्मक प्रमातृभाव से

प्रकट होता है, तो वह (कल्पित) अहं परामर्श, अपने से भिन्न दूसरे वस्तु समूह के अपोहन करने से (अर्थात् उनके निषेध करने से) विकल्पात्मक ही होता है। क्योंकि वह अवभास दूसरे प्रतिपक्षी के अवभास से ही उत्पन्न हुआ होता है।

भाव यह है कि देह आदि के विषय में ठहरे हुए प्रमातृभाव के परामर्श से दूसरे देह आदि और घट आदिका अवभास और निषेध होने के कारण वह मायीय अहंपरामर्श विकल्पात्मक ही होता है।

कादाचित्कावमासे या पूर्वाभासादियोजना।
संस्कारात्कल्पना प्रोक्ता सापि भिन्नावभासिनि।।६।।

किसी विशेष समय में होने वाले अवभास अर्थात् ज्ञान मे जो पिछले अर्थात् भूतकालीन आदि अवभासों की योजना संस्कार से उत्पन्न होती है, जैसे मैं कुछ समय पूर्व बच्चा था अब युवा हो गया हूँ। आगे बूढ़ा हो जाऊँगा इत्यादि वह भी भिन्नता के अवभास से युक्त (और कल्पना से कल्पित) वस्तु ही के विषय में हुआ करती है, अतः वह भी विकल्प ज्ञान ही होता है।

भाव यह है कि उस प्रकार की स्मृति मूलक योजना भी कल्पना ही है, वह शुद्ध प्रत्यवमर्श नहीं है।

तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छाया भासयेद्बहि:।।७।।

तो इस बात के सिद्ध होने पर व्यवहार दशा में भी स्वात्मदेव प्रभु देहादिकों में आवेश करता हुआ भी अर्थात् देहादिकों में मायीय प्रमाता के रूप में ठहरता हुआ भी अपनी अन्तरात्मा में भासमान होते हुए ही पदार्थों के समूह के (अपनी ही) इच्छा से बाहर प्रकट करता है; यही सिद्धान्त है।

एवं स्मृतौ विकल्पे वाप्यपोहनपरायणे।
ज्ञाने वाप्यन्तराभास: स्थित एवेति निश्चितम।।८।।

इस तरह से स्मृति में अपोहन मे लगे रहने वाले अर्थात् निश्चित वस्तु से भिन्न अन्य सम्भावित वस्तुओं का निषेध करने वाले विकल्प में तथा अनुभव ज्ञान में वस्तुओं का अन्तर आभास (अर्थात् प्रमाता की अन्तरात्मा में उनका प्रकाशन) ठहरा ही हुआ है। यह तो निश्चित सिद्धान्त है।

किन्तु नैसर्गिकों ज्ञाने बाहिराभासनात्मनि।
पूर्वानुभवरूपस्तु स्थितः स स्मरणादिषु॥९॥

किन्तु (भेद इतना ही है) कि बाह्य आभास रूपी अनुभव ज्ञान में वह अन्तर आभास स्वाभाविक रूप से अवस्थित रहता है; परन्तु स्मरण आदि में वह अन्तर आभास भूतकालीन अनुभव ज्ञान के रूप में युक्त होकर ही ठहरता है।

स नैसर्गिक एवास्ति विकल्पे स्वैरचारिणि।
यथाभिमतसंसथानाभासनाद्बुद्धिगोचरे॥१०॥

वह आन्तर आभास बुद्धि में ही प्रकट होने वाले स्वतन्त्रता से प्रसार में आने वाले (कल्पनात्मक) विकल्प ज्ञान मे भी नैसर्गिक रूप से ही अर्थात् स्वभावतया ही ठहरा रहता है क्योंकि वहाँ प्रमाता की इच्छा और रुचि के अनुसार ही वस्तु के अंगो के संनिवेश का आभासन होता रहता है, अर्थात् वह आभास पूर्व अनुभव के संस्कार के अधीन नहीं रहता।

अत एव यथाभीष्टसम्मुलेखा व भासनात्।
ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः॥११॥

इसलिए प्रमाता की इच्छा और रुचि के अनुसार

कल्पित पदार्थों के अवभासित होने के कारण ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति सभी प्राणियों में स्फुट रूप से ही सिद्ध है।

ज्ञानाधिकार का छठा आह्निक समाप्त हुआ।





अथ सप्तमाह्निकम्।

या चेषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।।१।।

जो यह प्रतिमा अर्थात् संवित-शक्ति उस उस पदार्थ के क्रम से रंजित बनी हुई है अर्थात् अनन्त प्रकार के क्रमिक पदार्थों के प्रतिबिम्बों से युक्त होती हुई अवभासित होती है; वही क्रम - रहित, अनन्त तथा चिद्रूप प्रमाता, महेश्वर है।

तत्तद्विभिन्नसंवित्तिमुखैरेकप्रमातरि।
प्रतितिषठत्सु भावेषु ज्ञातेयमुपपद्यते।।२।।

उन परस्पर विभिन्न संवित् स्पन्दों के द्वारा एक ही प्रमाता में पदार्थों के ठहरने पर ही उनकी परस्पर सम्बद्धता सिद्ध होती है।

भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता तथा उनका परस्पर सम्बन्ध उनके शिव अर्थात प्रमाता में ठहरते हुए ही सिद्ध होते हैं।

देशकालक्रमजुषामर्थानां स्वसमापिनाम्
सकृदाभास साध्योऽसावन्यथा कः समन्वयः॥३॥

यदि ऐसा नहीं होता तो देश तथा काल के क्रम को सेवन करने वाले अर्थात् भिन्न भिन्न देश तथा काल की परिधि में बंधे हुए तथा अपने में ही समाप्त होने वाले अर्थात् अपनी सीमा में ही बँधे हुए और दूसरों के साथ कोई भी सम्बन्ध न रखने वाले पदार्थों का, वह एक बार आभास से सिद्ध होने वाला परस्पर सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता।

प्रत्यक्षानुपलम्भानां तत्तद्भिन्नांशपातिनाम्।
कार्यकारणतासिद्धिहेतुतैक प्रमातृजा॥४॥

उन भिन्न भिन्न अंशों का आलम्बन लेने वाले प्रत्यक्षों तथा अनुपलम्भों की परस्पर कार्यता और कारणता की सिद्धि भी एक प्रमातृता से ही (अर्थात् उन सभी प्रत्यक्षों और अनुपलम्भों के एक ही प्रमाता रूपी समान आधार में ठहरते हुए आभासित होने से ही) उत्पन्न होती है।

भाव यह है कि सभी वस्तुओं की परस्पर कार्यता तथा कारणता की सिद्धि, एक समान प्रमाता के ही अधीन है।

स्मृतो यैव स्वसंविति: प्रमाणं स्वात्मसंभवे।
पूर्वानुभवसद्भावे साधनं सैव नापरम्॥५॥

जो स्वात्म संवित्ति स्मृति का अपना स्वरूप सिद्ध करने के लिए प्रमाण है वही भूतकालीन अनुभव की सत्ता की सिद्धि में भी प्रमाण है, दूसरा नहीं।

भाव यह है - जो प्रमाता किसी घटना का अनुभव पूर्वकाल में करता है वही प्रमाता स्मृतिकाल में उस का स्मरण कर सकता है। अत: एक प्रमातृ विश्रांति को मानने पर ही स्मृति मूलक सभी जागतिक व्यवहारों की सिद्धि हो सकती है।

बाध्यबाधकभावोऽपि स्वात्मनिष्ठा विरोधिनाम्।
ज्ञानानामुदियादेकप्रमातृ परिनिष्ठिते:॥ ६॥

अपने अपने स्वरूप मे निष्ठ तथा केवल अपनी महिमा से एक दूसरे के साथ विरोध से रहित बने हुए (बाध्य तथा बाधक रूप में ठहरने वाले शुक्तिका, रजत आदि के) ज्ञानो के परस्पर बाध्य बाधक भाव का उदय भी उनके एक प्रमाता में ही ठहरने से सिद्ध हो सकता है।

विविक्तभूतलज्ञानं, घटाभावमतिर्यथा।
तथा चेच्छुक्तिकाज्ञानं रूप्यज्ञानाप्रमात्ववित्॥७॥

जैसे शुद्ध पृथ्वी का ज्ञान ही घट-राहित्य का द्योतक है, वैसे ही शुक्तिका का ज्ञान ही चाँदी के ज्ञान की अप्रमाणता का बोधक हो (तो एक प्रमाता में ठहरने की कोई आवश्यकता नहीं। यह उक्ति पूर्वपक्षी उत्तर पक्ष वाले से कहता है।)

नैवं शुद्धस्थलज्ञानात्सिद्ध्येत्तस्याघटात्मता।
न तूपलब्धियोग्यस्याप्यत्राभावो घटात्मनः॥८॥

सिद्धान्ती उत्तर देता है - तुम्हारा ऐसा कहना ठीक नहीं। शुद्ध भूतल के ज्ञान से इतनी ही बात सिद्ध हो सकती है कि भूतल घटात्मक नहीं है। वहाँ उपलब्धि के योग्य घट के अभाव का भी ज्ञान उतने से नहीं हो सकता। अर्थात् इतना ही ज्ञान हो सकता है कि भूतल घट नहीं है। इस भूतल पर घट नहीं है। ऐसा ज्ञान शुद्ध भूतल के ज्ञान से नहीं हो सकता।

विविक्तं भूतलं शश्वद् भावानां स्वात्मनिष्ठितेः।
तत्कथं जातु तज्ज्ञानं भिन्नस्याभावसाधनम्॥९॥

शुद्ध भूमि तो सदा स्व-स्वरूप अर्थात् भूमि रूप ही है

क्योंकि पदार्थ तो अपनी सत्ता में स्थित रहते हैं। फिर भला वह विविक्त भूतल ज्ञान, घट के न होने का साधक कैसे बन सकता है।

भाव यह है - यदि हम रिक्त भूमि का देखें, तो इतने से ही हम घटाभाव अथवा घट के न होने को हम सिद्ध नहीं कर सकते। शुद्ध भूमि भला घट के होने या न होने को कैसे समझा सकती है। क्योंकि भूतल भूतल ही है। उसका घट के साथ अपने सामर्थ्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

किं त्वालोकच्‌योऽन्धस्य स्पर्शो वोष्णादिको मृदुः।
तत्रास्ति साधयेत्तस्य स्वज्ञानमघटात्मताम्॥१०॥

"यदि यह विविक्त भूतल ज्ञान ही उस भूमि में घटाभाव का कारण होता तो, एक बात यह भी है कि प्रकाश का केवल अनुमान करने वाले नेत्रहीन को, अग्नि आदि का उष्ण स्पर्श, अथवा जल आदि का कोमल स्पर्श, सम्भव न होता। किन्तु नेत्रहीन भी, उष्ण तथा कोमल स्पर्श का अनुभव करता है। अर्थात् यह ज्ञान, उस प्रमाता में संवित्त सिद्ध करता है"

पिशाचः स्यादनालोकोऽप्यालोकाभ्यन्तरे यथा।
अदृश्यो भूतलस्यान्तर्न निषेध्यः स सर्वथा॥११॥

जिस तरह से आलोक से भिन्न होता हुआ भी पिशाच अदृश्य रूप से आलोक के भीतर ठहरा रह सकता है, उसी तरह से शुद्ध भूतल के भीतर भी वह अदृश्य रूप से ठहरा रह सकता है। अत: उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध भूतल के ज्ञान से केवल इतनी निषेध की बात सिद्ध हो सकती है कि अन्योन्याभाव के न्याय से भूतल पिशाच नहीं है। यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि संसर्गाभाव के न्याय से भूतल में पिशाच नहीं है।

एवं रूप्यविदाभावरूपा शक्तिमतिर्भवेत्।
न त्वाद्यरजतज्ञप्तेः स्याद प्रामाण्यवेदिका ॥१२॥

इसी तरह शुक्ति का ज्ञान चान्दी के ज्ञान के अभाव के रूप को धारण करने वाला हो सकता है। परन्तु प्राक्तन चाँदी के ज्ञान की अप्रमाणता को वह जतला नहीं सकता।

भाव यह है कि शुक्तिका ज्ञान तथा रजत ज्ञान दोनों अपने में ही सीमित है। इन दोनों के परस्पर बाध्यबाधक - भाव की स्थापना करने में तो केवल प्रमाता ही समर्थ है जो कि उन दोनों में ओत-प्रोत भाव से ठहरा रहता है।

धर्म्यसिद्धेरपि भवेद्बाधा नैवानुमानतः।
स्वसंवेदनसिद्धा तु युक्ता सैकप्रमातृजा।।१३।।

आश्रया सिद्धि के दोष के कारण अनुमान द्वारा भी बाध्यबाधक भाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। एक प्रमाता के द्वारा अर्थात् एक प्रमाता, पर आश्रित होने से तो वह स्वसंवेदन प्रमाण से अनायास ही सिद्ध होता है और इस तरह से उसकी सिद्धि युक्तियों से सर्वथा युक्त है।

इत्थमत्यर्थ भिन्नार्थावभासखचिते विभौ।
समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते।।१४।।

इस भाँति परस्पर अत्यन्त भिन्नता वाले विविध भावों के अवभास से उपरक्त सर्वव्यापक प्रभु में ही अर्थात उसकी सत्ता के आधार पर और उसी एक आश्रय में सभी के प्रतिबिम्बत होते रहने से, सारा समल अर्थात् भेद प्रथा युक्त अशुद्ध व्यवहार का अनुभव किया जाता है। भाव यह है कि प्रभु ही विश्व के सम्पूर्ण व्यवहार का एकमात्र आश्रय है।

ज्ञानाधिकार का सातवां
आह्निक समाप्त हुआ।

अथ अष्टममाह्निकम्

तात्कालिकाक्षसामक्ष्यसापेक्षाः केवलं क्वचित्।
आभासा अन्यथान्यत्र त्वन्धान्धतंमसादिषु॥१॥

विशेषोऽर्थावभासस्य सत्तायां न पुनः क्वचित्
विकल्पेषु भवेद्भाविभवद्भूतार्थगामिषु॥२॥

अन्तर केवल इतना ही है कि कहीं अर्थात् स्फुट आभासों में, उसी क्षण में होने वाली इन्द्रियों की अभिमुखता की आवश्यकता रहती है और अन्धे को होने वाले तथा गाढ़ अंधकार में होने वाले (चाक्षुष) आभासों को उसी क्षण में होने वाले इन्द्रियों के अभिमुख्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु वर्तमानकालिक, भूतकालिक, या भविष्यत् कालिक विषयों को गृहण करने वाले विकल्प ज्ञानों में अर्थ के अवभास की सत्ता में कहीं भी कोई भी विशेषता नहीं होती।

सुखादिषु च सौख्यादिहेतुष्वपि च वस्तुषु।
अवभासस्य सद्भावेऽप्यतीतत्वातया स्थिति॥३॥

गाढमुल्लिख्यमाने तु विकल्पेन सुखादिके
तथा स्थितिस्तथैव स्यात्स्फुट मस्यो पलक्षणात्॥४॥

अतीत अनागत आदि सुख, दुख आदि और उस सुख, दुख आदि के कारण बनी हुई वस्तुओं के विषय में (वर्तमान) आभास के होने पर भी उनकी अतीतता आदि ही के कारण उन की स्थिति (उस वर्तमान आभास में) उस तरह से अर्थात् स्फुटता से नहीं होती है।

उसका कारण उनकी अतीतता, अनागतता आदि होती है। यदि गाढ़ भावना द्वारा उन अतीत आदि सुख-दुखों का या उन सुख-दुखादि के कारणों का दृढ़ उल्लेख (अन्तःकरण भूमिका में किया जाए तो, उस वर्तमान आभास में भी) उन अतीत आदि वस्तुओं की स्थिति वैसी ही स्फुट अनुभव होती है (जैसी वर्तमान काल में अनुभव समान वस्तुओं की होती है। क्योंकि उस अवस्था में सुखादि का आभास पूरी तरह स्फुटता से होता है।

भावाभावा व मासानां बाह्यतोपाधिरिष्यते।
नात्मा सत्ता ततस्तेषामान्तराणां सतां सदा।।५।।

घटपटादि भाव वर्ग तथा खपुष्पादिक अभाव वर्ग अथवा मुझे सुख है या मुझे दुख नहीं है इस प्रकार के अवभासों में जो बाह्यरूपता दीख पड़ती है वह इनकी उपाधि होती है, इनका

स्वरूप नहीं होती।

प्रमातृभूमिका में ठहरे हुए इन आभासों की (आन्तरी) सत्ता तो सदातनी सत्ता होती है। अर्थात् प्रमातृ भूमि में से सभी आभास प्रमातृमयता की अवस्था में सदैव विद्यमान ही रहते है।

क्रियाधिकार

विषय सूची

क्रियाधिकार		श्लोक संख्या
प्रथम आह्निकम्	-	८
द्वितीयम् आह्निकम्	-	७
तृतीयम् आह्निकम्	-	१७
चतुर्थम् आह्निकम्	-	२१

अथेश्वरप्रत्यभिज्ञायाः

क्रियाधिकाराख्याः

द्वितीयोऽधिकारः

विततविशदस्वात्मादर्शे स्वशक्तिरसोज्ज्वलां
प्रकटयति यो मातृस्वांशप्रमेयतटद्वये।

बहुतरभवद्भङ्गीभूमिं क्रियासरितं परां
प्रकटयतु नः श्रीमान्गौरीपतिः स ऋतं परम्

अन्वयः - यः गौरीपतिः वितत विशद् स्वात्म-आदर्शे स्वशक्ति-रस-उज्जवलां मातृ-स्वांश-प्रमेय-तटद्वये बहुतर-भवद्भङ्गीभूमिं परां क्रिया-सरितं प्रकटयति स गौरीपतिः परम ऋतं नः प्रकटयतु॥

अर्थ-जो पार्वती के पतिदेव-गौरीपति अति विस्तृत तथा निर्मल स्वात्म-दर्पण में अपनी स्वातन्त्रय शक्ति रूपी जल से उज्जवल बनी हुई प्रमाता तथा उसी के अंश रूप बने हुए प्रमेय रूपी दो तटों से युक्त तथा अनेकानेक उत्पन्न होने वाली तरंगों रूपी स्तरो से संपन्न, उत्कृष्ट क्रिया रूपी नदी को प्रकट करते हैं, वहीं गिरिजा-पति हमें गतिशील सत्य अर्थात् क्रियात्मक विमर्श-शक्ति से संपन्न परप्रकाशात्मक परमशिव तत्त्व का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) साक्षात्कार करायें।

यत्र विश्रान्तिमासाद्य चित्रं क्रीडाविजृम्भितम्।
क्रियाशक्तिः प्रियात्यन्तं दर्शयेत्तं स्तुमः शिवम्॥

अन्वयः 'प्रिय क्रियाशक्तिः यत्र विश्रान्तिभासद्य चित्रं क्रीडा-विजृंभितं अन्यन्तं दर्शयेत तं शिवं स्तुमः॥

अर्थ : (भगवान् शंकर की) प्रिय क्रिया-शक्ति जिस में

विश्रान्ति प्राप्त करके क्रीडा से विकसित बने हुए विचित्र जगत् को पूर्ण रूप से दिखाती है - प्रकट करती है, उस शिव की हम स्तुति करते हैं।

अत एव यदप्युक्तं क्रिया नैकस्य सक्रमा।
एकेत्यादि प्रतिक्षिप्तं तदेकस्य समर्थनात्।।१।।

अन्वय: : अतएव यद् अपि उक्तं एकस्य सक्रमा एका क्रिया न इत्यादि तत् (सर्वम्) एकस्य समर्थनात् प्रति क्षिप्तम्।

अर्थ (बौद्ध मतावलम्बियों के सिद्धान्त को दिखाते हुए उनका खंडन करते हैं।)

अत: जो यह कहा गया कि एक प्रमाता की क्रमिक क्रिया नहीं हो सकती, नहि वह सक्रम-सिल सिलेवार प्रकट होने वाली हो सकती है और न हि क्रमयुक्त क्रिया एक हो सकती है, यह सभी वाद एक प्रमाता के सिद्ध करने से खण्डित हो गये।

सक्रमत्वं च लौकिक्या: क्रियाया: कालशक्तित:।
घटते न तु शाश्वत्या: प्राभव्या: स्यात्प्रभोरिव।।२।।

अन्वय: - लौक्किया: क्रियाया सक्रमत्वं कालशक्तित: घटते, न तु प्रभोरिव शाश्वत्या: प्राभव्या: (क्रियाया: सक्रमत्वं) स्यात्।

अर्थ - लोक संबन्धी क्रिया की सक्रमता काल-शक्ति के कारण सिद्ध होती है - एक कार्य के बाद दूसरे कार्य का करना ही सक्रमता कहलाती है। किन्तु प्रभु की जो सनातन पारमेश्वर्य-शक्ति है, उस की भी सक्रमता प्रभु की भांति सक्रम हो नहीं सकती। भाव यह है - प्रभु तथा उनकी स्वातन्त्रय शक्ति सदा अक्रम तथा काल-कलना से रहित है।

कालः सूर्यादिसंचारस्तत्तत्पुशपादिजन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः॥३॥

अन्वयः कालः सूर्यादि संचारः तत् पुष्पादिजन्म वा शीतोष्णे वाथ स तत्त्वतः तत्-लक्ष्यः क्रम एव।

अब काल की परिभाषा करते हैं-

अर्थ - काल तो सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्रों का समयानुकूल संचार यानी उदित - अस्त आदिहोना अथवा ऋतुओं के अनुसार पुष्पों का खिलना या सर्दी गरमी का आगमन ही होता है, वह काल वास्तव में क्रम ही है।

भाव यह है कि जगत् संबन्धी प्रत्येक कार्य एक के बाद दूसरा प्रकट होता है। कार्यों के उसी क्रम-पूर्वक प्रकट होने को

ही काल कहते हैं।

क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्यावसदसत्त्वत:।
अभासससदसत्त्वे तु चित्राभास् कृत: प्रभो:।।४।।

अन्वय: - क्रमो भेदाश्रयो (भवति)। भेदोऽपि आभास सद् -असत्त्वत: (भवति), आभास् सद् असत्त्वे तु चित्राभास्कृत: प्रभो: (भवत:)।

अर्थ - सिलसिलेवार कार्यों का होना भेद पर निर्भर है। एक आभास के होने तथा दूसरे आभास के होने पर भेद खड़ा हो जाता है। उन आभासों का होना या आभासों का न होना, अनेकानेक आभासों के प्रदर्शन करने वाले सर्व-समर्थ प्रभु के सामर्थ्य से ही होता है।

मूर्त्ति वैचित्रयतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रिया वैचित्रयनिर्भासात्कालक्रममपीश्वर:।।५।।

अन्वय: - असौ ईश्वर: मूर्तिवैचित्रयतो देशक्रमम् आभासयति, क्रिया - वैचित्रय - निर्भासात् काल-क्रमम् अपि अभासयति।।
अर्थ - वह ईश्वर अनेकों मूर्तियों की विचित्रता को प्रकट करने से देश-क्रम यानि स्थान के क्रम को प्रकट करते है।

तथा क्रियाओं की विचित्रता के आभास के द्वारा काल-क्रम-समय को भी प्रकट करते हैं यानी समय का निर्माण करते हैं।

सर्वत्राभासभेदोऽपि भवेत्काल क्रमाकर:।
विच्छिन्न, भास: शून्यादेर्मातुर्भातस्य नो सकृत्
देशक्रमोऽपि भावेषु भाति मातुर्मितात्मन:।
स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु॥६॥

अन्वय : - काल-क्रम आकर:आभास-भेदो अपि विच्छिन्न भास: शून्यादेर्मातु: सर्वत्र भवेत्, सकृत् भातस्य मातु: नो भवेत। भावेषु देशक्रमोऽपि मितात्मन: मातु: भाति।अमितस्य (भातु:) भावास्वात्मा इव स्वात्मना पूर्णा भान्ति।

अर्थ : - काल की परिपाटी का उत्पति-स्थान (क्रिया-वैचित्रय रूप) आभास भेद भी , संकुचित आभास वाले शून्य, पुर्यष्टक प्राण तथा देह रूप परिमित प्रमाता को ही होता है। सनातन प्रकाश रूपी परप्रमाता को वह आभास भेद नहीं होता।

पदार्थों में जो (मूर्ति-वैचित्रय रूप) देश-क्रम है, वह

भी परिमित प्रमाता को ही आभासित होता है- उसे ही प्रतीत होता है। अमित-असीम पर-प्रमाता को तो पदार्थ, स्वात्मा की भांति ही स्वात्म रूप से ही परिपूर्ण दिखाई देते हैं।

किन्तु निर्माणशक्तिः साऽप्येवं विदुष ईशितुः।
तथा विज्ञातृविज्ञेयभेदों यंदअवभास्यते॥८॥

अन्वयः - किन्तु तथा विज्ञातृ-विज्ञेय भेदों यद् अवभासते सा विदुष ईशितुः अपि निर्माण-शक्ति

अर्थ - किन्तु उस प्रकार का प्रमाता-प्रमेय आदि का परस्पर भेद जो प्रकट किया जाता है, वह (उस) सर्वज्ञ ईश्वर की क्रिया-शक्ति ही है। अर्थात् केवल परिमित प्रमाता ही क्रिया से युक्त नहीं, स्वयं परमेश्वर भी सक्रिय ही है।

इति क्रियाधिकारे प्रथममाह्निकम् समाप्तम्॥



अथ क्रियाधिकारे द्वितीयमाह्निकम्।

विरोधमविरोधं च स्वेच्छयैवोपपादयन्।
भेदाभेदौ च यो मन्त्रतत्त्ववित्तं स्तुमः शिवम्।।

अन्वयः - यः मंत्रतत्त्ववित् (शिवो) विरोधम् अविरोधं च भेदाभेदौ च स्वेच्छयैवोपपादयन् अस्ति तं शिवं स्तुमः।

अर्थ - परिपूर्ण तथा असीम अहं परामर्श के रहस्य का अनुभव करने वाला जो शिव, सुख दुःख आदि भावों के परस्पर विरोध को तथा वस्त्र और उस के वर्ण आदि भावों के परस्पर अविरोध को तथा मायीय दृष्टि से भावो के परस्पर भेद को और परशिवात्मक शाक्तदृष्टि से उनके परस्पर अभेद को भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार सदा प्रकट करता रहता है उस शिव की हम स्तुति कर रहे हैं।

क्रिया संबन्धमामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रया मताः।।१।।

अन्वय : क्रिया-संबन्ध -

सामान्य-द्रव्य-दिक्-काल-बुद्धयः सत्याः स्थैर्य-

उपयोगाभ्याम् एक-अनेक-आश्रया मताः।

अर्थ - क्रिया जैसे देवदत्त का चलना इत्यादि। संबन्ध घर में बैठे हुए देवदत्त की तथा कालान्तर में सड़क चलते देवदत्त की वास्तविक एकता। सामान्य गायों का गायपना या गायों की गोत्व जाति। द्रव्य जैसे वस्त्र आदि अवयवी द्रव्य, देश, काल आदि जितने भी आभास हैं ये सभी सत्य हैं; क्योंकि स्थिर तथा उपयोगी है। साथ ही ये एकता ओर अनेकता दोनों का आश्रय लेते हुए ही प्रकट होते हैं।

तत्रैकमान्तरं तत्त्वं तदेवेन्द्रियवेद्यताम्।
संप्राप्यानेकतां याति देशकाल स्वाभावतः॥२॥

अन्वयः- तत्र एकम् आन्तरं-तत्त्वं तद एव इन्द्रिय-वेद्यतां संप्राप्य देश-काल- स्वभावतः अनेकतां याति।

अर्थ- उस एकता तथा अनेकता के विचार में आन्तरिक तत्त्व तो एक ही है। वही इन्द्रियों की वेद्यता को प्राप्त करके - इन्द्रियों से संबन्धित हो कर देश तथा काल के स्वभाव से अनेकता को प्राप्त होता है।

तद्द्वयालम्बना एता मनोऽनुष्ययसायिसत्।
करोति मातृव्यापारमयीः कर्मादिकल्पनाः॥३॥

अन्वयः - तद् -द्वय-आलम्बना मातृ-व्यापारमयीः एताः कर्मादि-कल्पनाः अनुव्यवसायि सद मनः करोति।

अर्थ - यह एकरूप या अनेक रूप संवित् मन के पीछे चल कर- मन के द्वारा निश्चय करके प्रमाता के व्यापार से मेल करके सभी कार्य करती है।

तात्पर्य यह है - उन एकता और अनेकता रूपी भावों का आश्रय लेने वाली तथा परिमित प्रमाता के करणमण्डल के व्यवहार के रूप में प्रकट होने वाली इन क्रिया आदि के आभासों की कल्पनाओं को संवित् प्रकाश का आश्रय लेता हुआ और उसी का अनुसरण करता हुआ (जीव का) मन व्यवहार करता रहता है।

स्वात्मनिष्ठा विविक्ताभा भावा एकप्रभातरि।
अन्योन्यान्वयरूपैक्ययुजः संबन्धधीपदम्॥४॥

अन्वयः - स्वात्म-निष्ठा विविक्ताभा भावा एकप्रभातरि अन्योन्य-अन्वय-रूप-ऐक्य - युजः (सन्तः) संबन्ध धी - पदं (भवन्ति)

अर्थ - (सभी जागतिक) पदार्थ जो अपने अपने (सीमित) स्वरूप में स्थित हैं तथा भिन्न-भिन्न आभास से युक्त हैं, वही

एक प्रमाता पर आश्रित हो जाने पर, पारस्परिक संबन्ध से युक्त होकर, सम्बन्धात्मक ज्ञान का अवलम्बन् बनते हैं।

जातिद्रव्यावभासानां बहिरप्येकरूपताम्।
व्यक्त्येकदेशभेदं चाप्यालम्बन्ते विकल्पना:॥५॥

अन्वय:- जाति-द्रव्य-अवभासानां विकल्पना: बहिर अपि एकरूपतां व्यक्ति - एक देशभेदं चाऽपि आलम्बन्ते।

अर्थ - जाति, जैसे गायों की गोत्व जाति, द्रव्य जैसे घट आदि अवयवी द्रव्य-अंगों के परस्पर जोड़ से बनी हुई वस्तु इन के अवभासों की जो कल्पनायें हैं, वे बाह्य रूप यानी प्रमेय रूपता में भी एक रूपता का तथा व्यक्तियों के एकदेशीय पारस्परिक भेद का भी आश्रय लेती हैं।

तात्पर्य यह है - गोत्व जाति के आभास में और घट आदि अवयवी वस्तु के आभास में प्रमेयता की भूमिका में भी एक एक गाय के परस्पर व्यक्तिगत भेद का और गोत्व जाति की दृष्टि से सभी के अभेद का तथा कपालों के परस्पर भेद का तथा घट रूपता में दोनों के अभेद का आभास होता रहता है। प्रमातृ-भूमिका में अवस्थित रहने से प्रकट होने वाले अभेद

के अतिरिक्त वह प्रमेय भूमिका में भी ठहरने वाला अभेद है।

क्रियाविमर्शविषय: कारकाणां समन्वय:।
अवध्यवधिमद्भावान्वयालम्बा दिगदिधी:॥६॥

अन्वय - कारकाणां समन्वय: क्रिया-विमर्श-विषय: अवधि-अवधिमद्-भाव-अन्वय - आलम्बा दिग् आदि धी: (भवति)।

अर्थ - कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों का जो संबन्ध है वह क्रिया के विमर्श का विषय है। क्रिया का विचार ही उन कारकों को परस्पर जोड़ता है। इसी भांति (देश, काल तथा आकार) के जो अवभास है वे अवधि विशेष-दैशिक कालिक आदि सीमा तथा अवधिमान् (देवदत्त, घट, पट आदि) का आश्रय लेकर ही प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि जड़वर्ग सदा चेतन-वर्ग के आश्रित रहता है अत: उन के समस्त प्रकार के सम्बन्धों का आभास प्रमाता की ही कल्पनाओं का आसरा लेता है।

एवमेवार्थसिद्धि: स्वान्मातुरर्थ क्रियार्थिन:।
भेदाभेदावतार्थेन तेन न भ्रान्तिरीदृशी॥७॥

अन्वय : - अर्थ-क्रिया-अर्थिन: मातु: अर्थसिद्धि: एवमेव

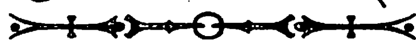
भेद - अभेदवता अर्थेन स्यात्, तेन ईदृशी भ्रान्तिः न॥
अर्थ: - इस तरह से तो प्रयोजनात्मक क्रिया के इच्छुक प्रमाता की अर्थ-सिद्धि - उसका अभिष्ट कार्य-संपादन, अनेक रूप यानी भेदात्मक तथा एक रूप यानी अभेदात्मक प्रमेय वस्तु के द्वारा ही होती है। अत: सिद्ध यह हुआ कि ये क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य आदि आभास भ्रान्ति रूप नहीं हैं - सत्य है।

स्मरण रहे भ्रान्ति दशा मे अर्थ- सिद्धि का होना असम्भव है। किन्तु इन प्रमेयात्मक आभासों के द्वारा प्रत्येक कार्य की सिद्धि होती है, अत: इन्हें भ्रान्ति कह कर असत्य कहना भूल है।

इति क्रियाधिकारे द्वितीयमाह्निकम् समाप्तम्।



अथ क्रियाधिकारे तृतीयमाह्निकम्।



प्रमाणानि प्रमावेशे स्वबलाक्रमणक्रमात।
यस्य वक्तावलोकीनि प्रमेये तं स्तुमः शिवम्।।

अन्वयः- प्रमाणानि स्वबल-आक्रमण-क्रमात् प्रमेये प्रमावेशे यस्य वक्त्र अवलोकीनि, तं शिवं (वयं) स्तुमः।

अर्थ : - प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रमेयों के भीतर अपने सामर्थ्य के सन्चारण के द्वारा प्रमा रूपता में आविष्ट होने के लिए अर्थात् प्रमारूपता को धारण करके अपनी सफलता के सम्पादन के लिए जिस के मुंह की ओर (सदा) ताकते रहते हैं- जिस प्रमाता के प्रकाश के बिना कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते, उसी शंकर रूप वास्तविक प्रमाता की हम स्तुति करते हैं।

इदमेताहगित्येवं यद्वशाद्वयवतिष्ठते।
वस्तु प्रमाणं तत्सोऽपि स्वाभासोऽभिनवोदयः।।१।।

सोऽन्तस्तथाविमर्शात्मा देशकालाद्यभेदिनि।
एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता।।२।।

अन्वयः - इदं एताहम् अस्तु इत्येवं यद्वशाद् व्यवतिष्ठते, तत् प्रमाणं। सो अपि स्वाभासों अभिनवोदयः। सो अन्तः तथा विमर्शात्मा देश-काल आदि अभेदिनि वस्तुनि एक-अभिधान-विषये अबाधि-तामितिः (भवति)।

अर्थ- यह वस्तु है या वह वस्तु ऐसी है - इस प्रकार का निश्चय जिससे स्थिर होना है, उसे प्रमाण कहते हैं। वह प्रमाण भी स्वाभास अर्थात् प्रमाता का अपना आभास होता है। भाव यह है कि उससे प्रमाता को यह अनुभव होता है कि अमुक वस्तु मुझे प्रतीत हो रही है। इस तरह से वह प्रमाण, प्रमाता को आत्मीयतया प्रतीत होता हुआ तथा सदैव नवीन नवीन रूपों को धारण करता हुआ ही उदित होता है। वह अभिनवोदय प्रमाण, प्रमातृ भूमिका में 'तथा' उसी प्रकार से प्रथमाभास के अनुसार ही विमर्श रूप को धारण करता हुआ प्रमिति - प्रमाण-फल बन जाता है, परन्तु तभी प्रमिति बन जाता है जब उत्तर-काल में उसका बाध न हो जाये। तात्पर्य यह कि प्रथमाभास के अनुसार उदित होने वाला अबाधित अन्तः विमर्श प्रमिति कहलाता है। प्रमाण ही प्रमेय में अपने सामर्थ्य का संचार करता हुआ इस प्रमिति के रूप को धारण करता है। उस प्रमाण का विषय वह पदार्थ बनता है जो एक शब्द का अर्थ

हो तथा देश-काल-आकार के भेद से रहित हो। तात्पर्य यह है - नव नवोदित प्रमाण का विषय एक मात्र वस्तु होता है। देशाभास या कालाभास आदि के सम्बन्ध को प्रकट करने वाला प्रमाण मूल वस्तु को प्रकट करने वाले प्रमाण से भिन्न होता है। इस तरह से प्रत्येक शब्दार्थ के विषय में पृथक् पृथक ही नवनवोदित प्रमाण होता है। परन्तु प्रमाण तभी तक प्रमाण रहता है, जब तक उसकी अन्त: विमर्श रूपिणी प्रमा बाधित न होने पाए। ऐसा हो जाने पर उसकी प्रमाणता प्रथम क्षण से ही उखड़ जाती है।

यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
अभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते।।३।।

अन्वय: - अनुसंधान-साधिते एकस्मिन् अर्थे आभासो अपि यथा-रुचि यथा - अर्थित्वं यथा-व्युत्पत्ति भिद्यते।

अर्थ - अनुसन्धान के द्वारा निश्चित किये हुए एक ही पदार्थ के विषय में भी जो आभास होता है वह प्रमाता की रूचि के अनुसार उस के प्रयोजन के अनुसार तथा शब्दके विषय में वृद्ध जनों के व्यवहार के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों को प्राप्त होता है।

भाव यह है - जैसे कई व्यक्तियों ने एक सोने के आभूषण को देखा। उस को देख कर कोई सहृदय व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार उस की सुन्दरता पर ध्यान देगा। सुनार उस के सुवर्ण का मूल्यांकन करेगा। भिन्न भिन्न व्यक्ति अपने वृद्धजनों के व्यवहार के अनुसार अपनी अपनी मातृभाषाओं के भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा उसका विमर्श करेंगे।

दीर्घवृत्तोर्ध्वपुरुष धूमचान्दनतादिभिः।
यथाभासा विभिद्यन्ते देशकालविभेदिनः॥४॥

तथैव सद्घट द्रव्य का ञचनोज्जवलतादयः।
अभासभेदा भिन्नार्थकारिणस्ते पदं ध्वनेः॥५॥

अन्वय :- देश-काल-अवभेदिनः आभासाः दीर्घ-कृत्त-ऊर्ध्व-पुरुष- धूम - चान्दननादिभिः यदा विभिद्यन्ते तथा एव सद्घट - द्रव्य - कांचन - उज्जवलतादयः आभास भेदा ते भिन्नार्थ कारिणः ध्वनेः पदं (भवन्ति।)

अर्थ - जिस तरह से पुरुष आदि या धुआं आदि आभासमान पदार्थ, जिनके अपने स्वरूप में, देशकृत या कालकृत कोई भी भेद नहीं, फिर भी दीर्घता, गोलाई, ऊंचाई, पुरुषता आदि भावों द्वारा अथवा धुआंपन, चन्दनोदभवता आदि के

भावों द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में अवभासित होते हैं उसी तरह से सत्ता, घटता, अवयविद्रव्यता, स्वर्णमयता, उज्जवलता आदि के भावों द्वारा भिन्न भिन्न आभास प्रकट होते हैं और भिन्न भिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। वे ही आभासभेद शब्दव्यवहार के आलम्बन बन जाते हैं।

अभासभेदाद्वस्तूनां नियतार्थक्रिया पुनः।
सामानाधिकरण्येन प्रतिभासादभेदिनाम्॥६॥

अन्वय: - वस्तूनाम् आभासभेदाद् अर्थक्रियानियता (भवति) समानाधिकरण्येन प्रतिभासाद् अभेदिनां (वस्तूनाम अर्थक्रिया पुनर् (अन्या नियता भवति)

अर्थ - वस्तुओं के भिन्न-भिन्न प्रकार के आभासों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार की नियत उपयोगिता सिद्ध होती है। उन्हीं वस्तुओं का जब एकग्रयता से एक रूप आभास होता है तो उस एक रूप आभास से और ही कोई नियत उपयोगिता सिद्ध होती है।

पृथग्दीप प्रकाशानां स्त्रोतसां सागरे यथा।
अविरुद्धावभासानामेककार्या तथैक्यधीः॥७॥

अन्वय : - यथा प्रथग् दीप - प्रकाशानां (यथा च) स्त्रोतसां

सागरे ऐक्य-धीः (भवति) तथा अविरूद्ध - अवभासानां एक-कार्या (एकधीः) भवति।

अर्थ - जैसे भिन्न भिन्न दीपकों के प्रकाशों का मिला जुला प्रकाश वास्तव में एक आभास रूप बन कर एक उपयोगिता के अनुकूल बन जाता है, तथा समुद्र में प्रविष्ट हुई नदियों का जल भी ऐसा ही कर सकता है। वैसे ही विरोध -रहित अवभासों की एक रूपता से भी एक रूपतया आभास तथा एक ही अर्थ-क्रिया सिद्ध होती है।

भाव यह है - अविरोधी भिन्न भिन्न अवभास् भी कभी एकाभास रूप हो जाते हैं और नियत एक उपयोगिता को सिद्ध करते हैं।

तत्राविशिष्टे वह्न्यादौ कार्यकारणोष्णता।
तत्तच्छब्दार्थताद्यात्मा प्रमाणादेकतो मतः॥८॥

अन्वयः - तत्र अविशिष्टे वह्न्यादौ कार्य-कारणता, उष्णता, तत्-तत् - शब्द - अर्थताद्यात्मा एकतः प्रमाणाद् मतः।

अर्थ - इस पक्ष के माने जाने पर देश-काल आदि विशेषणों से रहित सामान्य अग्नि आदि के आभास में इन्धन-कार्यता, धूम-कारणता, उष्ण-स्वाभावता, अग्नि, वह्नि, कृशानु आदि

शब्दों द्वारा वाच्यता आदि स्वरूप सभी आभास वर्ग एक ही प्रमाण से सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है - एक प्रमाण से केवल अग्नि मात्र के सिद्ध होने के साथ ही साथ उस अग्नि के सभी नियत स्वभावो की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सा तु देशदिकाध्यक्षान्तरभिन्ने स्वलक्षणे।
तात्कालिकी प्रवृत्ति स्वादर्थिनोऽप्यनुमानत:॥८॥

अन्वय : - अर्थिन: तु सा तात्कालिकी प्रवृत्ति: देश-आदिक - अध्यक्ष-अन्तर् अभिन्ने-स्वलक्षणे अनुमानत: अपि स्याद्

अर्थ- किसी विषेश अर्थक्रिया के अनुकूल जो कोई प्रवृत्ति किसी प्रमाता को होती है वह प्रवृत्ति तो देश, काल, आकार आदि के जो अनेक प्रमाण है, उनके परस्पर भेद के होते हुए ही और भीतर आत्मस्वरूप में उन सभी के अभेद के होते हुए ही होती है। अनुमान में भी जो प्रवृत्ति होती है वह भी इसी तरह प्रमाण समूह द्वारा ही होती है।

भाव यह है। - समस्त विशेष प्रवृत्तियाँ एक ओर से तो भिन्न-भिन्न प्रमाणों के समूहों के होते हुए और दूसरी ओर से

आत्मस्वरूप के भीतर उन सभी के अभेदभाव से स्थित रहते रहने पर ही हुआ करती है।

दूरान्तिकतयार्थानां परोक्षाध्यक्षतात्मना।
बाह्यान्तरतया दोषैर्व्यञ्जकस्यान्यथापि वा॥१०॥

भिन्नावभासच्छायानामपि मुख्यावभासतः।
एकप्रत्यवमर्शाख्यादेकत्वमनिवारितम्॥११॥

अन्वयः - दूर-अन्तिकतया भिन्न - अवभास - छायानामपि अर्थानां परोक्ष - अध्यक्षतात्मना बाह्य - अन्तरतया अन्यथा अपि वा व्यंजकस्य दोषैः एक प्रत्यवमर्शाख्याद् मुख्यावभासतः एकत्वम् अनिवारितम्॥

अर्थ - वस्तुओं के दूर या निकट ठहरे रहने से, प्रत्यक्ष या परोक्ष होने से बाह्य-इन्द्रिय गोचर अथवा आन्तर इन्द्रिय गोचर होने से अथवा वस्तुओं को प्रकट कराने वाले, दीपक आदि के दोषों से या और कारणों से भिन्न-भिन्न प्रकार के अवभासों की छाया से युक्त बने हुए भावों का भी जब एक विमर्श, विमर्शनीयता रूपी मुख्य एक अवभास से प्रतीति होती है तो उनकी एकता में कोई बाधा नहीं रहती।

तात्पर्य यह है कि यदि कोई एक भाव किन्हीं कारणों से

अनेक रूपों में प्रकट होता भी हो तो भी जब विमर्श द्वारा उसके विषय में यह निश्चय किया जाए कि वस्तुत: यह एक ही पदार्थ है, जो कभी ऐसा और कभी वैसा प्रतीत होता रहा तो उस पदार्थ की सिद्धि में कोई बाधा नहीं रहती।

इस तरह से व्यवहार में भी विमर्श के आधार पर अनेक रूपता भी सिद्धहोती है और उस अनेकरूपता में एक रूपता भी सिद्धहोती है - इस भांति दोनों के सिद्धहो जाने पर कोई विरोध भी नहीं रहता।

अर्थक्रियापि सहजा नार्थानामीश्वरेच्छया।
नियता सा हि तेनास्या नाक्रियातोऽन्यता भवेत्॥१२॥

अन्वय: - अर्थानाम् अर्थक्रिया अपि सहजा न, सा हि ईश्वरेच्छया नियता, तेन अस्या अक्रियातो अन्यता न भवेत्॥

अर्थ - पदार्थो की जो अर्थ-क्रिया यानि कार्य को सिद्धकरने के प्रति उपयोगिता है, वह उनका स्वरूप भूत-अपना तात्विक स्वभाव नहीं है। वह अर्थ-क्रिया तो ईश्वर की इच्छा से ही निश्चित की गई है। अत: किसी पदार्थ के किसी अवस्था में

अर्थ क्रिया न करने से भी उस में भेद नहीं उत्पन्न होता।

भाव यह है कि यदि किसी अवस्था में कोई पदार्थ अपनी उपयोगिता को सिद्ध न करे जैसे अन्धेरे में दर्पण मुख के प्रतिबिम्ब को न दिखाए फिर भी उसमें भेद नहीं आता जैसे वह दर्पण उससे अदर्पण नहीं हो जाता। कारण यह कि प्रयोजन के प्रति उपयोगिता वस्तु का अपना स्वभाव नहीं, वह तो ईश्वर की नियति के नियमों के अनुसार ही हुआ करती है।

रजतैकविमर्शेऽपि शुक्तौ न रजतस्थितिः।
उपाधिदेशासंवादाद् द्विचन्द्रेऽपि नभोऽन्यथा।।१३।।

अन्वयः-शुक्तौ रजत-एक-विमर्शे अपि रजत-स्थितिः न उपाधि-देश-असंवादाद् द्विवन्द्रे अपि नभः अन्यथा (भवति)।

अर्थ :- सीपी में चान्दी की भ्रान्ति होने पर भी वास्तव में चान्दी का अस्तित्व नहीं होता (कारण यह कि) उस सीप रूपी स्थान में चांदी की प्रतीति का संचार अर्थात् पुनः पुनः वैसी ही प्रतीति का होते रहना, नहीं होता। इसी भांति रेखा-तिमिर रोग से युक्त व्यक्ति यदि आकाश में दो चांद देखे भी, फिर भी आकाश दूसरे क्षण में और प्रकार का प्रतीत होता है क्योंकि दो चान्दों की प्रतीति लगातार नहीं होती।

गुणैः शब्दादिमिर्भेदो जात्यादिभिरभिन्नता।
भावनामित्थमेकत्र प्रमातर्युपपद्यते।।१४।।

अन्वय :- इत्थम एकत्र प्रमातरि शब्दादिभिः गुणैः भावनां भेदो जात्यादिभिः (भावानाम्) अभिन्नता च उपपद्यते।

अर्थ :- इस तरह से समस्त आभासों के सामान्य आधारभूत एक प्रमाता के होते हुए ही गुणों के कारण पदार्थो में परस्पर भेद होता है। शब्द आदि गुणों के कारण पदार्थो का परस्पर भेद और जाति आदि के द्वारा उनका परस्पर अभेद भी उपन्न होता है अर्थात् युक्ति युक्त सिद्धहोता है।

तात्पर्य यह है - चैत्र मैत्र आदि नामों के उल्लेख से मानवों में भेद की प्रतीति होती है और मानवत्व से समस्त मानवों में अभेद भी प्रतीत होता है। यह सब कुछ तभी उत्पन्न हो सकता है जब आभासों का संयोजन और वियोजन करने वाला प्रमातृ-तत्त्व उन सभी का सामान्य आश्रय बनता रहता है।

विश्वैचित्रयचित्रस्य समभित्तितलोपमे।
विरुद्धाभावसंस्पर्शे परमार्थसतीश्वरे।।१५।।

प्रमातरि पुराणे तु सर्वदा भातविग्रहे।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि।।१६।।

अन्वय :- विश्व-वैचित्रय-चित्रस्य, समभिति-तल-उपमें विरुद्ध-अभाव-संस्पर्शे परमार्थ-सति ईश्वरे सर्वदा-भात-विग्रहे सर्व-प्रमिति-भागिनी पुराणे प्रमातरित्तु नवाभासः प्रमाणं किम्।

अर्थ - जो (ईश्वर) विश्वमय जगत् के वैचित्रय के चित्र लिए एक समतल भिति (दीवार) के समान है। वो सदा विराजमान रहता है। अभाव का स्पर्श भी जिसके विरुद्ध है - जिसे अभाव छू भी नहीं सकता। अतः जो परमार्थ-सत्य वस्तु है। जो परम-ऐश्वर्य से युक्त है। जिसका स्वरूप सदा भासमान रहता है तथा जो सभी प्रमितियों का सेवन करने वाला है, ऐसे पुरातन-अनादि काल से अवस्थित प्रमाता के लिए अभिनव आभास रूपी प्रमाण क्या माने रखता है।

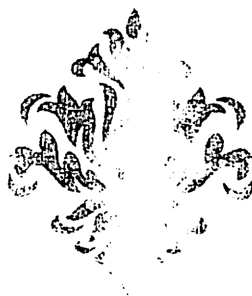
भाव यह है - जो अन्य मतावलम्बी जन ईश्वर को प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं- उन्हे उत्तर देते हुए कहते हैं - जो सदा भासमान है ऐसे ईश्वर को प्रमाण कैसे सिद्ध करेगा, जब कि प्रमाण की स्थिति स्वयं इसी प्रमाता के अधीन है।

अप्रवर्तितपूर्वोऽत्र केवलं मूढ़तावशात्।
शक्तिप्रकाशेनेशादिव्यवहारः प्रवर्त्यते।।१७।।

अन्वयः - अत्र केवलं मूढ़ता - वशात् अप्रवर्तितपूर्वः ईशादि-व्यवहारः शक्तिप्रकाशेन प्रवर्त्यते॥

अर्थ : - इस परमेश्वर के विषय में इस शास्त्र में केवल इतना ही कहा जा रहा है कि (परमेश्वर की ही लीला के प्रभाव से अवभास्मान) मोह के कारण इस आत्म परमेश्वर के विषय में जिस ईश्वरता आदि के व्यवहार को अभी तक जीवों ने नहीं चलाया, उसी व्यवहार को उनकी अपनी स्वभावभूत शक्ति की अभिव्यक्ति के उपाय द्वारा चलाया जा रहा है। भाव यह है- मैं ईश्वर हूँ सदा शिव हूँ, शिव हूँ आदि व्यवहार तो शक्ति की अभिव्यक्ति से ही किया जाता है।

इति क्रियाधिकारे
तृतीयमाह्निकम् समाप्तम्।



अथ क्रियाधिकारे चतुर्थमाह्निकम्



भावानाभासयन् कर्ता निर्मले स्वात्मदर्पणे
कार्यकारणभावं च यश्चित्रं तं स्तुमः शिवम॥

अन्वयः - यः कर्ता निर्मले स्वात्म-दर्पणे भावान् चित्रं च कार्य-कारण-भावम् अभासायन् अस्ति तं शिवं स्तुमः।

अर्थ - जो शिव रूपी कर्त्ता अपने आप रूपी निर्मल दर्पण में सभी पदार्थों को तथा विचित्र कार्य कारण भाव को वैचित्र पूर्वक अभिव्यक्त करता रहता है उस शिव की हम स्तुति कर रहे हैं।

एष चानन्तशक्तित्वादेवभाभासयत्यमून्।
भावानिच्छावशादेषा क्रियां निर्मातृतास्य सा॥१॥

अन्वयः - एष च अनन्त - शक्तित्वाद् एवं अमून् भावान् इच्छा वशाद् अभासयति। सा एशा अस्य निर्मातृता क्रिया।
अर्थ - यही शिव अनन्त शक्ति से युक्त होने के कारण इसी भांति (कार्य-कारण रूपता से) इन (सभी) पदार्थों को अपनी (स्वतन्त्र) इच्छा के प्रभाव से दिखाता है। वही यह इस प्रभु की निर्माण करने की शक्ति क्रिया कहलाती है।

इस श्लोक में 'सा एषा' ' वही यह शब्द से प्रत्यभिज्ञा की सूचना मिलती है।

जड़स्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः।
कर्तृकर्मतवतत्त्वैव कार्यकारणता ततः॥२॥

अन्ययः - जडस्य तु न सा शक्तिः यद् असतः सतः सत्ता (भवति)। ततः कर्तृ-कर्मत्व-तत्त्वैव कार्य-कारणता (कथिता)।

अर्थः - सत्य तो यह है - जड़ बीजादि में यह शक्ति नहीं है कि वह (बीज में) न होने वाले अंकुर की या उस में होने वाले अंकुर की सत्ता को प्रकट कर सकें। वस्तुतः सिद्ध यह हुआ - ईश्वर कर्त्ता है और अंकुर आदि कर्म है। यह कर्तृ-कर्म-भाव ही कार्य-कारणता है। भाव यह है - कर्तृत्वरूप से ईश्वर ही कारण है और कर्म रूप से अंकुर आदि उसी का कार्य है बीज-आदि का नहीं।

सदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वरूपताः।
सतोऽमि न पुनः सत्तालाभेनार्थोऽथ चोच्यते॥३॥
कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः॥
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः॥४॥

अन्वयः - यद् असत् तत् असत्, असतः सत् स्वरूपतः न उक्त, पुनः सतो अपि सत्ता-लाभेन न अथः, अथ च उच्यते लोके कार्य-कारणता, सा तस्य कस्यापि शक्तितः अन्तर विपरिवर्तिनः उभय इन्द्रिय-वेद्यत्वम् (भवति)।

अर्थ - जो (अंकुर आदि) असत् है। वह असत ही है, असत् कभी सद्रूप नहीं बन सकता। (यदि अंकुर सद्रूप हो तो) सद्रूप को पुनः सद्रूपता देने में कोई प्रयोजन नहीं। फिर भी यदि संसार में कार्य कारणता कही जाती तो उसका तात्पर्य यही हो सकता कि प्रमातृ-भूमिका के भीतर सदा वर्तमान जगत् (परमेश्वरता स्वभाव वाले) उस किसी (परमेश्वर) की शक्ति के प्रभाव से अन्तः करणों और बाह्य इन्द्रियों द्वारा जान लिए जाने की अवस्था में भी प्रकट हो जाता है।

एवमेका क्रिया सेषा सक्रमान्तर्बहिः स्थितिः।
एकस्यैवोभयाकारसहिष्णोरुपपादिता॥५॥

अन्वयः - एवम् सा एषा क्रिया सक्रमा अन्तर् बहिः स्थितिः उभय-आकार-सहिष्णोः एकस्यैव उपपादिता।

अर्थ- इस तरह से वही यह क्रिया एक भी है और क्रमयुक्त

भी है (क्योंकि) अन्तः (प्रमातृ-भूमिका में) और बहिः - इन्द्रियादि में ठहरी हुई है। भाव यह है कि प्रमातृ भूमिका में ठहरती हुई क्रिया एकरूपा है और जब कर्मेंद्रियों आदि में फैल जाती है तब क्रमात्मकता के रूप में भी प्रकट हो जाती है। यह क्रिया एकमात्र प्रमाता की है, जो स्वतन्त्र होता हुआ दोनों अन्तः बहि आकारों में प्रकट हो सकता है। इस तरह से क्रिया सर्वथा उपपन्न है।

बहिस्तस्यैव तत्कार्यं यदन्तर्यदपेक्षया।
प्रमात्रपेक्षया चोक्ता द्वयी बाह्यान्तरस्थितिः॥६॥
मातैव कारणं तेन स चाभासद्वयस्थितौ।
कार्यस्य स्थित एवेकस्तदेकस्य क्रियोदिता॥७॥

अन्वयः - यद् यद् अपेक्षया अन्तर तत् तस्यैव हिः कार्यम् बाह्य-अन्तर-द्वयी-स्थितिः च प्रमातृ-अपेक्षया उक्ता तेन माता एव कारणम्। स कार्यस्य आभास-द्वय-स्थितौ-एकः स्थित एव। तद् एकस्य (प्रभातुः) क्रिया उदिता।

अर्थः - जो पदार्थ जिसकी अपेक्षा से भीतर (बीजभाव में) स्थित है, वह उसी का बाह्य कार्य हो सकता है। बाह्य स्थिति और आन्तर स्थिति दोनों प्रमाता की ही अपेक्षा से कही गई हैं। अतः प्रमाता ही कारण है वह कार्य के आन्तर आभास और

बाह्य आभास दोनों में एक रूप से ठहरा ही रहता है। अतः उस एक मात्र प्रमाता ही की क्रिया होती है ऐसा कहा गया।

अत एवाङ्कुरेऽपीष्टो निमित्तं परमेश्वरः।
तदन्यस्यापि बीजादेर्हेतुता नोपपद्यते॥८॥

अन्वयः - अतः एव अंकुरे अपि परमेश्वरः निमित्तं इष्टः, तद् अन्यस्य बीजादेः अपि हेतुता न उपपद्यते।

अर्थः - इसीलिए अंकुर के होने में भी परमेश्वर को ही (वास्तविक) कारण माना गया है। ईश्वर से अन्य-भिन्न ठहरे हुए बीज आदि को भी (अंकुर का) कारण मानना युक्त नहीं हैं।

तथा हि कुंभकारोऽसावैश्वर्येव व्यवस्थया।
तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण जनयेद् घटम्॥९॥

अन्वयः - तथा हि असौ कुंभकारः ऐश्वर्यैव व्यवस्थया तत्तद्-मृदादि-संस्कार-क्रमेण घटं जनयेद्।

अर्थः- क्योंकि यह सांसारिक कुम्हार भी ईश्वर द्वारा निश्चित किए गए विधान के अनुसार ही दंड, चक्र, आदि द्वारा उस मिट्टी आदि पदार्थ के संस्कार के क्रम से ही घडे का

निर्माण कर सकता है।

योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन तत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम्।।१०।।

अन्वय: - तत् योगिनाम अपि मृद् बीजे विनैव इच्छा वशेन स्थिर-स्वार्थ- क्रिया-करम तत् तत् घटादि जायते।

अर्थ-अत: योगि-जन भी मिट्टी और बीज के बिना ही केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही चिरकाल तक रहने वाले तथा अपने अभीष्ट कार्य की पूर्ति करने वाले, घड़े या अंकुर को उत्पन्न करते हैं।
'स्थिर-स्वार्थ-क्रिया-करम्' कहने का अभिप्राय यह है- योगियों की मनोवांछित सृष्टि, मदारियों की सृष्टि की भांति नष्ट होने वाली तथा कार्य की पूर्ति न करने वाली नहीं होती। प्रभु की भांति ही योगियों की सृष्टि भी सत्य होती है।

योगिनिर्माणताभावे प्रमाणान्तरनिश्चिते।
कार्यं हेतुः स्वभावा वा-तएवोत्पत्रि मूलजः।।११।।

अन्वय: - प्रमाणान्तर निश्चिते योगिनिर्माणता अभावे कार्यं हेतु: स्वाभावों वा अतएव उत्पत्ति-मूलज:।

अर्थ-अन्य दृढ़ प्रमाण से जब इस बात का निश्चय हो चुके कि अमुक वस्तु का निर्माण योगी की इच्छा से नहीं हुआ है, तभी कोई वस्तु किसी वस्तु का अनुमान कराने के लिए कार्य हेतु (जैसे धुआं आग का) या स्वभाव हेतु (जैसे शीशम होना वृक्ष होने का) बन सकती है। यह स्वभाव हेतु वस्तु की उत्पत्ति के मूल कारण में ही निहित रहता है।

तात्पर्य यह है - अनुमान द्वारा तभी हेतु से साध्य की सिद्धि हो सकती है, जब इस बात का पहले निश्चय हो कि हेतु को किसी योगी ने अपनी इच्छा के बल से उत्पन्न नहीं किया है। साध्य की उत्पत्ति के मूल कारण में ही स्वभाव हेतु और उसका हेतुभाव निहित रहता है। शीशम उत्पन्न होते ही वह स्वाभावत: वृक्ष ही होता है। वृक्ष-भाव शीशम के मूल कारण में ही निहत होता है, अत: शीशम के उत्पन्न होते समय ही प्रकट हो जाता है।

भूयस्तत्तत्प्रमात्रेकवह्न्याभासादितो भवेत्।
परोक्षादप्यधिपतेर्धूमाभासादि नूतनम्।।१२।।

कार्यमव्यभिचार्यस्य लिङगम् अन्यप्रमातृगात्।
तदाभासस्तदाभासादेव त्वधिपते: पर:।।१३।।

अन्वयः - भूयः परोक्षाद् अपि तत्तत-प्रमातृ-एक-वह्नि-आभास-आदि-तः अधिपतेः नूतनं धूम-आभास -आदि भवेत्। (तद्) अस्य अव्यभिचारि कार्य लिङ्ग (भवति) परः तदाभासः तु अन्य-प्रमातृ-गात् तदा-भासादेव अधिपतेः (भवति)।

अर्थः- पश्चात् अनुमान काल में भी जो नवीन धूम आभास आदि (हेतु) होता है, वह भी धूमाभास के अधिपति अर्थात् धूमाभास को उत्पन्न कर सकने वाले और व्याप्ति ग्रहण काल में उन उन सभी प्रमाताओ द्वारा एकरूपतया जाने हुए अग्नि-आभास से ही उत्पन्न हो सकता है, यद्यपि वह अग्नि-आभास उस समय (अनुमान के समय) प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही होता है। वह धूम इस अग्नि का कार्य है अतः अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति से सिद्ध इस का हेतु है।

दूसरा (ग्वाले की मटकी में से धीरे धीरे निकलने वाला) वह आभास-धूमाभास तो दूसरे प्रमाता द्वारा-ग्वाले के द्वारा, जाने गए उसी आभास से धूम-आभास से ही उत्पन्न होता है। अग्नि-आभास से नहीं। क्योंकि उसका अधिपति (उस को अपने में धारण करने वाला) तो धूमाभास ही होता है।

तात्पर्य यह है - गोपाल-घटिका से निकलने वाली धूम रेखा से अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि उस धूमलेखा का कारण अग्नि नहीं, संचित धूम ही है।

अस्मिन् सतीदमस्तीति कार्यकारणतापि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते।।१४।।

अन्वयः - अस्मिन् एति इदं अस्ति इनि या कार्य-कारणता (अस्ति) सा अपि अपेक्षा-विहीनानां जडानां न उपपद्यते।

अर्थ:-अग्नि के होने पर ही धुआं होता है या बीज के होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार की जो (पारस्परिक) कार्य कारणता है वह भी एक दूसरे की अपेक्षा से रहित जड पदार्थों में सम्भव नहीं। बीज अंकुर की उत्पत्ति से अनभिज्ञ है तथा मिट्टी, घड़े के निर्माण होने से अपरिचित है। ऐसे चेतना हीन जड़ के द्वारा कार्य कारण भाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अत: सिद्ध यह हुआ कि बीज-अंकुर आदि की कार्य-कारणता की सिद्धि एकमात्र प्रमाता के अधीन है। जड़ बीजादि तो एकदम एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित हैं।

न हि स्वात्मैकनिष्ठानामनुसन्धानवर्जिनाम्।
सदसत्तापदेऽप्येष सप्तम्यर्थः प्रकल्प्यते॥१५॥

अन्वयः - स्वात्म-एक-निष्ठानां अनुसन्धान-वर्जिनां सद्-असत्-अपदे-अपि एषः सप्तमी-अर्थः न हि प्रकल्प्यते॥

अर्थः - (जड़ पदार्थ तो) केवल अपने ही जड़ स्वरूप में सीमित रूप से ठहरे रहते हैं। (एक दूसरे के ज्ञान से अपरिचित हैं) तथा कार्य कारण के सम्बन्ध के एक विमर्श पर ठहरने वाले अनुसन्धान से रहित हैं। अतः उनके सामर्थ्य से बीज के होने पर अंकुर होता है या बीज के न होने पर अंकुर नहीं होता है, इस प्रकार के सप्तमी विभक्ति के अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है। चाहे कारण और कार्य की कल्पना नहीं की जा सकत है। चाहे कारण और कार्य दोनों सत् हो या असत् या चाहे दो में से एक सत् हो और दूसरा असत् हो।

तात्पर्य यह है - ''कारण के होने पर ही कार्य होता है, इस प्रकार के अधिकरण कारक की कल्पना वही कर सकता है जो कार्य और कारण के पारस्परिक संबन्ध का अनुसन्धान कर सके। चेतन आत्मा ही ऐसा कर सकता है। जड़ बीज आदि

नहीं- उसे तो अंकुर का ज्ञान ही नहीं होता। चाहे हम सत् कार्य वाद को मानें, चाहे असत् कार्य-वाद को मानें अथवा चाहे सर्व-मिथ्यावाद को ही क्यों न मानें फिर भी आत्मा की सत्ता को माने बिना कार्य-कारण-भाव को सिद्ध किया ही नहीं जा सकता।

अत एव विभक्तयर्थः प्रमात्रेकसमाश्रयः।
क्रियाकारकभावारव्या युक्तो भावसमन्वयः॥१६॥

अन्वयः - अत एव प्रमातृ-एक समाश्रयः भाव समन्वयः क्रिया कारक भावाख्या विभक्ति-अर्थ युक्तः (भवति)।

अर्थ : - इसी आधार पर तो क्रिया कारक भावरूप वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध, जिसे विभक्तियों का अर्थ कहते हैं, वह युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है - क्रिया कारक भाव सम्बन्ध भी तभी सिद्ध हो सकता है, जब एक विमर्श द्वारा अनेकों आभासों का अनुसन्धान कर सकने वाले चेतन आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया जाए।

परस्परस्भावत्वे कार्यकारणयोरपि।
एकत्वमेव भेदे हि नैवान्योन्यस्वरूपता॥१७॥

अन्वयः - कार्य कारणयोः परस्पर-स्वभावत्वे अपि एक-त्वमेव, भेदे हि अन्योन्य स्वरूपता नैव।

अर्थः- (अब यदि यह मानें कि) कार्य अंकुर का स्वभाव ही बीजता है तथा कारण बीज का स्वभाव ही अंकुरता है, तब तो दोनों की परस्पर एकता ही सिद्ध होती है। यदि दोनों में परस्पर भेद माना जाए तो कार्य, कारण स्वरूप नहीं हो सकता और कारण, कार्य स्वरूप नहीं हो सकता।

एकात्मना विभेदश्च क्रिया कालक्रमानुगा।
तथा स्यात्कर्तृतैवैवं तथा परिणमत्तया॥१८॥

अन्वयः - एकात्मना विभेदश्च काल क्रम अनुणा क्रिया, एवं तथा परिणमत्तया तथा कर्तृतैव स्यात्।

ऊपर वर्णित श्लोक में सांख्यवादी शंका करता है:-

अर्थः- एक स्वरूप वस्तु के भिन्न भिन्न रूपों में अवभास होने को ही क्रिया कहते हैं। वह क्रिया, काल के क्रम का अनुसरण करती है। अतः इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि महद् आदि के क्रम से जो परिणाम शीलता मानी गई है वह

इस प्रकार की क्रिया ही हो सकती है।

तात्पर्य यह है - मूल वस्तु का जगद्रूप में जो परिणाम माना गया है वह मूलवस्तु की क्रियाशीलता ही सिद्ध हो सकती है। तभी तो मूल तत्त्व अपने स्वरूप में ठहरता हुआ ही विश्वरूपता को अपनी क्रिया शीलता से प्रकट करता रहता है।

न च युक्तं जडस्यैवं भेदाभेदविरोधतः।
आभासभेदादेकत्र चिदात्मनि तु युज्यते॥१९॥

अन्वयः - भेद-अभेद-विरोधतः च जडस्य एवं न युक्तम्। एकत्र चिदात्मनि तु आभास भेदाद् युज्यते।

अर्थ - (सिद्धान्ती कहता है) भेद यानी बुद्धितत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक तथा अभेद यानी प्रकृति रूप में इन दोनों के परस्पर विरोधी होने के कारण जड प्रकृति को कर्त्ता मानना युक्तिसंगत नहीं है। इस रीति से (एक रूप होते हुए ही अपने में आभास भेदों को प्रकट करते हुए) परिणामशील होना जड़ के लिए युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि एकरूपता के कारण सिद्ध होने वाले अभेद में और जगद्रूपता के कारण प्रकट होने वाले भेद में परस्पर विरोध आता है। तात्पर्य यह है-जड़ प्रकृति अपने स्वरूप में अभिन्न रहती हुई ही जगद्रूपता के भेदभाव को

धारण नहीं कर सकती। एकमात्र चिद्रूप आत्मा में तो भिन्न भिन्न आभासों के हो सकने से ही यह सब कुछ युक्तियुक्त सिद्ध होता है। क्योंकि परमेश्वर चेतन-स्वरूप तथा स्वातन्त्रयपूर्ण है। इस के उलट प्रकृति जड़ तथा पराधीन है।

वास्तवेऽपि चिदेकत्वे न स्यादाभासभिन्नयो:।
चिकीर्षालक्षणैकत्व परामर्श विना क्रिया।।२०।।

अन्वय: - चिद्-एकत्वे वास्तवे अपि चिर्कीर्षा-लक्षण-एकत्व परामर्श बिना आभास भिन्नयो: क्रिया न स्याद्।
अर्थ: - (वेदान्त मत के अनुसार) चित् स्वरूप परमात्मा की अद्वैत रूपता को तथ्य रूप से मानने पर भी जगत् की सृष्टि के प्रति कर्तृत्व रूपिणी इच्छा के अद्वैत परामर्श के बिना चेतनाभास तथा जडाभास की परस्पर (स्रष्टसृज्य भाव की) क्रिया सिद्ध ही नहीं हो सकती।

भाव यह है- चैतन परब्रह्म के अद्वैत भाव को मान लेने पर भी जब तक उसमें सृष्टि करने के प्रति इच्छा को न मान लिया जाए तब तक जगत् की उपपत्ति नहीं की जा सकती। अत: मानना पड़ता है कि परब्रह्म सृष्टि करना चाहता है। यही उसकी क्रिया है। इस इच्छा से ही जगत् की सृष्टि क्रिया की उपपत्ति लग सकती है। इस इच्छा के भीतर सभी स्रष्टव्य

जगत् अभेदभाव से ओत-प्रोत रहता है। अत: उस इच्छा के परामर्श के साथ ही साथ सृष्टव्य जगत् का भी परामर्श होता है। परन्तु अद्वैतभाव से ही, द्वैतभाव से नहीं। यदि इस इच्छा को न माना जाए तो ब्रह्म सृष्टि कर ही न सके। अत: इसे अवश्य ही मानना पड़ता है।

इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया।।२१।।

अन्वय: - इत्थं तथा घट-पट-आदि-आभास् - जगदात्मना तिष्ठासोर् एवम् इच्छैव, हेतुता, कर्तृता, क्रिया।

अर्थ: - (अत:) स्वातन्त्रय शक्ति के स्वीकार कर लेने पर घट, पट आदि आभास रूप पदार्थों के रूप में ठहरने के इच्छुक ईश्वर की, इस प्रकार से ठहरने की ऐसी इच्छा ही (सभी पदार्थों की) कारणता है। यही परमेश्वर की कर्तृता है। यही उसकी क्रिया है।

इति क्रियाधिकारे कार्यकारणतत्त्वनिरूपणं
नाम चतुर्थमाह्निकम् ।। ४।।

संपूर्णश्चायं क्रियाधिकारो नाम द्वितीयो विमर्श:
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के क्रियाधिकार नामक दूसरे विमर्श की हिन्दी टीका समाप्त हुई।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां आगमाधिकारे प्रथमनाह्निकम्।

यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसङ्गः
पूर्णत्वमभ्येति कृतार्थतां च।
तं नौम्यहं शांभवतत्त्वचिन्ता-
रत्नौधसारं परभागमाब्धिम्॥

अन्वय : - सर्व-आगम-सिन्धु-संगाः यं प्राप्य पूर्णत्वं च कृतार्थनां अभ्येति नं शांभव-तत्त्व-चिन्ता-रत्न-औध-सारं परमं आगम-अब्धिं अहं नौमि।

अर्थः- संपूर्ण शास्त्र रूपी बडी बडी नदियों का समूह जिस में सभा कर पूर्णता तथा कृतकृत्यता को प्राप्त करता है, उसी शिव तत्त्व की चिन्तना रूपी रत्नों के समूह का सार (विमर्श रूप) बने हुए आगम- शिव शास्त्र रूपी विशाल सागर की हम स्तुति करते हैं।

श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
यदन्तर्भाति तत्त्वानं चक्रं तं संस्तुमः शिवम्॥

अन्वयः - श्रीमत् सदाशिव उदार प्रारम्भम् वसुधान्तकम्

तत्त्वानाम् चक्रं यद् अन्तर्भाति तं शिवं संस्तुमः।।

अर्थः - मोक्ष-संपदा से युक्त विशाल सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक जितने भी तत्त्वों के समूह जिस में प्रतिभासित होते हैं उस कल्याण रूप परम-शिव-महारक की हम स्तुति करते हैं- उसी में प्रवेश करते हैं।

एवमन्तर्बहिर्वृत्तिः क्रिया कालक्रमानुगा।
मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी।।१।।

अन्वयः - एवम् कालक्रमानुगा अन्तर् बर्हिवृत्तिः क्रिया मातुरेव (भवति) यनः - तद् अन्योन्य ज्ञान-कर्मणी अवियुक्ते।

अर्थ - शिव तत्त्व का लक्षण कह रहे हैं।

इस भांति काल और क्रम की जो आन्तरिक और बाह्य-वृत्ति है वह प्रमाता के साथ जुड़ी हुई है। इसी को दूसरे शब्दों में ज्ञान-अहम् और कर्म-इदम् भी कहते हैं जो दोनों ही प्रमाता के साथ अभिन्न हैं। प्रकाश और विमर्श का होना ही शिव-तत्त्व है।

किंत्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादितः।
बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्॥२॥

अन्वयः - किंतु आदितः आन्तर दशा उद्रेकात् सादाख्यम् तत्त्वम्। परतः बहिर् भाव परत्वे तु पारमेश्वरम् (तत्त्वम्)।

अब सदाशिव तथा ईश्वरतत्त्व का लक्षण कह रहे हैं।

अर्थ-यद्यपि सृष्टि-क्रम में जुटने का आयोजन शिव-तत्त्व द्वारा ही होता है फिर भी इसी शिव-तत्त्व में जब आन्तरिक अहम् का उद्रेक, अभेदरूपतया स्वरूप में ही होता है तो सदाशिव तत्त्व कहलता है इस का परामर्श अहंमिदम् है। जब इसी शिवतत्त्वम् में 'इदम्' का अंकुर तनिक अंकुरायमान होने लगता है तो ईश्वर-तत्त्व कहलता है। इस का परामर्श 'इदमहम्' है। किंतु यह इदम् भी स्वरूप में ही ठहरा है।

ईश्वरो बहिरुन्मेषा निमेषोन्तः सदाशिवः।
सामान्याधिकरण्यच्च सद्विधाहमिदंधियोः॥३॥

अन्वयः - बहिर् उन्मेषः ईश्वरः अन्त निमेशः सदाशिवः च अहम इदम् धियोः सामान्य-अधिकरण्ये सद्विद्या (भवति)।

अर्थः-शिवतत्व में जब 'इदम' को देखने अर्थात् अनुभव

करने का उन्मेष-स्फुरणा होती है तो वह ईश्वर तत्त्व कहलता है। इसी इदम् को जब शिव अपने ही स्वरूप में यानी अहम् में निमज्जित करता है तो सदाशिव-तत्त्व कहलाता है और जब अहम् इदम् का ज्ञान समधृत तुला पुट न्याय के अनुसार एकवत् रहता है, वह शुद्धविद्या कहलाती है इस का परामर्श अहं अहम् इदम् इदम् है। भाव यह है कि इस शुद्धविद्या में स्वात्म स्वरूप और जगत् एकवत् आनंदपूर्ण अनुभव में आता है।

इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्ववलोकनात्।।४।।

अन्वयः - वेद्य-भूमिम्-उपेयुषाम् इदं भाव-उपपन्नानां भावानामृ यथा-वस्तु-अवलोकनात् बोध-सारत्वात् (एव)

अर्थः - वेद्य भूमि को प्राप्त हुए जड़ पदार्थ जो इदम् पद से कहे जाते हैं वे भी जब (साधक के द्वारा) पारमार्थिक दृष्टि से देखे जाते हैं तो वह बोध यानी अहम् का रूप ही होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सभी प्रमेय-वर्ग, प्रमातृ रूप, परमेश्वर का ही साकार रूप है।

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा॥५॥

अन्वयः - परता अहन्तया आच्छादात् हि सा पर दशा, अपरत्वं अनात्मत्वेन अत्र भावानाम् भासनात् अपरदशा (अस्ति)।

अर्थ - पूर्ण होने से अर्थात् अहं भाव से परिवेष्ठित होने से यह परा दशा कहलाती है और इदं भाव से पदार्थों का स्वरूप अनुभव होने पर यह अपरा दशा - दूसरे पर आश्रित होने से जड़ कहलाती है।

भेदधीरेव भावेषु, कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा। ६॥

अन्वय : - बोधात्मनोरपि कर्तुः या भावेषु एव माया-शक्तेव भेदधीः सा विद्या इति अन्ये यथा विद्येश्वराः॥

अर्थः - प्रमाता जो सभी व्यवहार को निभाता है वह यद्यपि अहं बोध रूप ही है फिर भी अपनी ही स्वातन्त्रय शक्ति रूपी माया से उसे पदार्थो में जो इदं भाव की बुद्धि उत्पन्न होती है वह विद्या कहलाती है। इस महामाया तत्त्व के अधीश्वरों को विद्येश्वर या अनन्त भट्टारक भी कहते हैं।

भाग दो

श्रीमदाचार्यभिनवगुप्तपादविरचिता

अनुत्तराष्टिका

सङ्क्रामोऽत्र न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा परा
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाम्यासप्रयासो न च)
तत् किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रूयतां
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथा वस्थित:॥१॥

इस अनुत्तर-धाम में पहुँचने के लिए न भावना, न भगवत कथा-वार्ता, न शास्त्र-युक्ति (उपाय) और नही पारमार्थिक चर्चा की आवश्यकता है। ध्यान,धारणा, जप तथा अभ्यास का प्रयास भी नही करना है। तब फिर आप विचार करके उस सत्य को जताइये(वह कैसे प्राप्य है) सुनिये-इस को प्राप्त करने के लिये न तो (विषयों का) त्याग करना है और न ही किसी साधना की अपेक्षा है। जो जैसा हो रहा है, यथा-पूर्वक हो रहा है। इसी धारणा को देखते हुए (विमर्श करते हुए) आत्मिक-सुख-लाभ का सेवन (चर्वण) करो।

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभ्रतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्ति क्रिया।
मिथ्या मोहकृदेष रज्जभुजंगच्छाया पिशाच भ्रमो
माकिञ्चित् त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो
यथावस्थितः॥२॥

सच मानिये - जीवधारियों को संसार है ही नहीं। जब संसार नही है तो बन्धन की वार्ता ही क्या है। मानिये जीव यदि बन्धन में फंस गया तो उस से वह कभी भी छुट नही सकता। मुक्तात्मा को मुक्त बनने की क्रिया (उपाय) करना भी निष्प्रयोजन है। बात तो यह है - यह सभी बन्धन, मुक्ति आदि की भावना, व्यर्थ के मोह द्वारा उत्पादित रस्सी पर सांप का भ्रम होना या छाया को देखकर पिशाच (राक्षस) के भ्रम की भांति आभास-मात्र है। गुरु-युक्ति यह है न मुक्त बनने के लिए कुछ छोड़ना है - न कुछ पकड़ना है। अपनी चेतना में स्थिर स्वरुप बनकर जो कुछ हो रहा है, ठीक हो रहा है- यही विमर्श करते हुए सभी विलास (व्यवहार) करो।

पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथानुत्तरे
सङ्क्रामः किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेश क्रमः।
मायेयं न चिदद्वयात् परतया भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथः॥३॥

पूजा करने वाला तथा पूज्य देवता की जो भेदात्मक सरनि (मार्ग) है - इन की वार्ता ही अनुत्तर में क्यों करें। किसने, कैसे, क्यों इस में प्रवेश करना है या इससे छूटना है यह बात ही नहीं है। तुम कहते हो- यह माया है वह माया भी अद्वैत चिद-प्रकाश के बिना भिन्न होकर ठहर ही नहीं सकती। यह सभी (उपाय-क्रम) निर्मल स्वात्मानुभव रूप ही है। फिर व्यर्थ चिन्ता ही क्यों करते हो।

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवद्
दीपार्केन्दुकृत प्रभाप्रकरवन्नैव प्रकाशोदयः।
हर्ष संभृतभेदमुक्ति सुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वेतपदस्य विस्मृतिनिधेः प्रप्ति प्रकाशोदयः॥४॥

यह स्वात्मानन्द, धन, मदिरा से मस्त बनकर या स्त्री द्वारा प्राप्त सुख से प्राप्य नहीं होता। यह स्वात्मप्रकाश, दीपक, सूर्य, चांद की प्रभाकिरणों से प्रकाशित नहीं होता। हर्ष को प्राप्त करके, भेद-प्रथा से मुक्त होकर हम सुखी होंगे - यह भी कल्पना का भोज ही है। सच तो यह है - विस्मृतनिधि की जो अद्वैत अवस्था है - जहाँ संकल्प-विकल्पों की इति होती है, उस की प्राप्ति ही प्रकाश का उदय है।

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहङ्कार दैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्वपुषोभिन्नस्वभावा न ते।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत तदेकात्मता
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद् भावना निर्भरः॥५॥

राग, द्वेष, सुःख, दुःख, उदय, लय, अहंकार, दीनता आदि विकारों का होना, विश्व-स्वरूप स्वात्मा का ही निजी (अपना) स्वभाव है। उस से भिन्न नहीं है। (मानव), जिस जिस रूप को सहसा देखकर, उस से एकमेक हो जाता है, उन सभी को संवित रूप ही देखते हुए तथा इस भावना पर निर्भर होकर क्यों नहीं रमन (जागतिक व्यवहार) करते हो।

पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदास्मिन् भवे
मध्याकारविकार सङ्करततां तेषां कुतः सत्यता।
निः सत्ये चपले प्रपञ्चनिचयेस्वप्नभ्रमे पेशले
शंकातंककलंक युक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव ॥६॥

इस विश्व का इतिहास यह है-हमारे जन्म से पहिले यह था ही नहीं - हमारे उत्पन्न होने से इस की स्थिति सहसा (एकाएक) हो गई। मध्य दशा में आकर इस का विकार रूप सांकर्य-मिलाप हो गया। अब इस की सत्यता पर विश्वास ही क्या है? सिद्धयह हुआ - यह भेद-प्रथा एकदम असत्य है,

चंचल है, विस्तार से युक्त है, स्वप्न और भ्रान्ति के समान थिरकने वाली है। यह भेद-शंका गडबड करने वाली कालिमा है। इसे गुरु-युक्ति से मिटाकर, अपने स्वरूप में जागृत हो जाओ।

भावानां न समुदभवोऽस्ति सहजस्तद्भाविता भान्त्यमी
निः सत्या अपि सत्पतमनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम्।
त्वत्संकपजं एवं विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात् त्वं विभवेन भासि
भवनेष्वेकोऽप्यनेकात्मकः।।७।।

पदार्थो की उत्पत्ति स्वतः नही हुई है। तुम्हारी भावना - इच्छा से ही यह प्रकाशित हुए दिखाई दे रहे हैं। असत्य होते हुए भी यह सत्यात्मक अनुभव-प्रकाश से ही क्षण-मात्र में स्थैर्य को प्राप्त करते हैं। जब यह बात सिद्धहुई तो यह विश्व - महिमा तुम्हारे इच्छात्मक - संकल्प से ही स्थिति को प्राप्त करती है। अन्य द्वारा इसका जन्म नहीं हुआ है। इस धारणा को समक्ष रखकर तुम हीप्रमेय वर्ग में भासित होकर अनेक रूप बने हो।

यत् सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न अनित्यं च यद
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते।

तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयात् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढ़ महिमा, विश्वेश्वरत्वं भज।। ८।।

संसार के विषय में यह विचारना - यह सत्य है, असत्य है, भेद-प्रथा के कारण अल्प-फोक है, परमार्थ का उपाय होने से बहुत महत्वपूर्ण है, नित्य है, अनित्य है, माया से मलिन है, आत्म रूप होने से विमल है - यह सभी भावनायें चिद्-दर्पण में ही भासित हो रही हैं। (अतः चिद् - दर्पण से भिन्न इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है।) बात तो यूं है - ये सभी भावनायें स्वात्मविमर्श - संविद् से उदित होकर प्रकाशित हैं। ऐसा जान कर स्वात्म - अनुभव में टिक कर विश्वेश्वर भाव को प्राप्त करो अर्थात् जीवन्मुक्ति का आनन्द भोगो।

इति अनुत्तराष्टिका समाप्तम्

अनुत्तरअष्टिका श्रलोकों का अर्थ समाप्त हुआ।



ॐ

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-
श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचितं
देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्।

असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणे निरतम्।
दर्शनशताग्र्यपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे।। १।।

मैं (पूज्य) प्राण रुपी गणपति को प्रणाम करता हूँ, जो सैंकडों अथवा सभी शास्त्रों में प्रथम-पूज्य है, जो अभीष्ट वरों के प्रदान करने में लगा हुआ है और जिस की वन्दना देवता तथा असुर-गण करते है।। १।।

वरवीरयोगिनीगणसिद्धावलिपूजितांघ्रियुगलम्।
अपहृतविनयिजनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे।। २।।

मैं अपान नाम वाले वटुक-भैरव को प्रणाम करता हूँ जो शिष्य-जनों का दुःख दूर करता है और जिस के चरण-युगल की पूजा-श्रेष्ठ वीरों, योगनियों और सिद्ध-पुरुषों ने की है।

आत्मीयविषयभोगैरिन्द्रियदेव्यः सदा हृदम्भोजे।
अभिपूजयन्ति यं तं चिन्मयमानन्दभैरवं वन्दे।। ३।।

मैं उस चिद्रूप आनन्द-भैरव को प्रणाम करता हूँ जिस को इन्द्रियदेवियां अपने अपने शब्द आदि विषय-भोगो से हृदय रूपी कमल में सदा पूजती हैं।।३।

यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति।
तमहमवधानरूपं सद्गुरुममलं सदा वन्दे।। ४।।

मैं निर्मल अवधान-स्वरूप उस गुरुदेव की वन्दना सदा करता हूँ जिस अवधान को अपनी बुद्धिमें ठहराने से भक्त-जनों को यह सारा संसार शिवमार्ग ही दीख पड़ता है।। ४।।

उदयाभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम्।
आनन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे।। ५।।

मैं उस पूर्ण-अहं-विमर्श-रुप आनन्दभैरवी को प्रणाम करता हूँ, जो इस सम्पूर्ण-विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप लीला लगातार करती रहती है।। ५।।

अर्चयति भैरवं या निश्चयकुसुमैः सुरेशपत्रस्था।
प्रणमामि बुद्धिरूपां ब्रह्माणीं तामहं सततम्।।६।।

मैं उस बुद्धि-रूप ब्रह्माणी (ब्राह्मी भगवती) को सदा

प्रणाम करता हूँ, जो 'सुरेश-पत्र' अर्थात् इन्द्र संबन्धी पूर्व-दिशा में ठहरी हुई निश्चय रूपी पुष्पों से भैरव-नाथ की पूजा करती है॥६॥

कुरुते भैरवपूजामनलदलस्थाभिमानकुसुमैर्या।
नित्यमहंकृतिरूपां वन्दे तां शाम्भवीमम्बाम्॥ ७॥

मैं उस अहंकार-रूप शाम्भवी माता (माहेश्वरी) की वन्दना सदा करता हूँ, जो अग्नि-दिशा (दक्षिण-पूर्व-दिशा) में ठहरी हुई अभिमान रूपी फूलों से भैरवनाथ को पूजती है॥७॥

विदधाति भैरवार्चा दक्षिणदलगा विकल्पकुसुमैर्या।
नित्यं मनःस्वरूपां कौमारी तामहं वन्दे॥ ८॥

मैं उस मन ही स्वरूप वाली कौमारी नामक शक्ति की वन्दना नित्य करता हूँ, जो दक्षिण दिशा में ठहरी हुई विकल्प रूपी पुष्पों से चिन्नाथ की पूजा करती रहती है॥॥८॥

नैऋतदलगा भैरवमर्चयते शब्दकुसुमैर्या।
प्रणमामि श्रुतिरूपां नित्ये तां वैष्णवीं शक्तिम्॥९॥

मैं उस श्रवणेन्द्रिय रूपी वैष्णवी नाम वाली देवी को

नित्य नमस्कार करता हूँ, जो नैऋत-दल अर्थात् दक्षिण-पश्चिम-कोण में ठहरी हुई शब्द रूपी पुष्पों से भैरव-नाथ की पूजा करती है॥९॥

पश्चिमदिग्दलसंस्था हृदयहरैः स्पर्शकुसुमैर्या।
तोषयति भैरवं तां त्वग्रूपधरां नमामि वाराहीम्॥१०॥

मैं उस त्वचा रूप वाली वाराही भगवती को प्रणाम करता हूँ, जो पश्चिम (वरुण-दिशा) में ठहरी हुई हृदय-हारी स्पर्श रूपी पुष्पों से भैरव-देव को सन्तुष्ट करती है ॥१०॥

वरतररूपविशेषैर्मारुतदिग्दलनिषण्णदेहा या।
पूजयति भैरवं तामिन्द्राणीं दृक्तनु वन्दे॥११॥

मैं उस नयन-स्वरूप इन्द्राणी भगवती की वन्दना करता हूँ, जो वायु दिशा (पश्चिम-उत्तर-कोण) में ठहराये हुए देह वाली उत्तम सुन्दर रुपों से भैरवनाथ की पूजा करती रहती है॥११॥

धनपतिकिसलयनिलया या नित्यं विविध षडरसाहारैः।
पूजयति भैरवं तां जिह्वाभिख्यां नमामि चामुण्डाम्॥१२॥

मैं उस जिह्वा नाम वाली चामुण्डा भगवती को प्रणाम करता हूँ, जो कुबेर-दिशा अर्थात् उत्तर दिशा में ठहरी हुई सदैव नाना प्रकार वाले छः रसों (मीठा, सलवण (नमकीन), तीखा, कसैला, खटट्ा और कड़वा) से भैरवनाथ को पूजती है॥१२॥

ईशदलस्था भैरवमर्चयतेपरिमलैर्विचित्रैर्या।
प्रणमामि सर्वदा तां घ्राणाभिख्यां महालक्ष्मीम्॥१३॥

मैं उस घ्राणेन्द्रिय रूप महालक्ष्मी अर्थात् योगीश्वरी देवी को सदा प्रणाम करता हूँ, जो ईशान-कोण अर्थात् उत्तर-पूर्व-कोण में ठहरी हुई नाना प्रकार के केसर-चन्दन आदि परिमलों (सुगंधित-पदार्थो) से भैरव की पूजा करती है॥१३॥

षड्दर्शनेषु पूज्यं षट्त्रिंशत्तत्त्वसंवलितम्।
आत्माभिरव्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे॥१४॥

मैं उस जीवात्मा रूपी सिद्धि-पद क्षेत्रपाल को सदा प्रणाम करता हूँ जो सभी षठशास्त्रों में पूज्य माना गया है और जो छत्तीस तत्त्वों से संवलित अर्थात् घेरा हुआ रहता

है॥१४॥

संस्फुरदनुभवसारं सर्वान्तः सततसन्निहितम्।
नौमि सदोदितमित्थं निजदेहगदेवताचक्रम्॥१५॥

इस प्रकार मैं अपने ही शरीर में ठहरे हुए सदा उदित समस्त-देवता चक्र की स्तुति करता हूँ, जो स्वानुभव-गम्य और सभी जड़-चेतन आदि वस्तुओं के भीतर ठहरा हुआ है॥१५॥

इति श्रीमदाचार्यभिनवगुप्तपादविरचितं
देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्।

इति शिवम्

ई० सन् १९६० की वार्ता है - हमारे आराध्य गुरुवर्य, ईश्वर-आश्रम श्रीनगर में अपने आसन पर आनन्दमग्न अवस्था में बैठे थे। मैं तथा ब्रह्मवादिनी शारिका जी दायें बायें सतृष्ण नेत्रों से महाराज जी के दर्शन से लाभान्वित हो रही थीं। एकाएक मैंने धीमे स्वर में गुरुदेव जी से कहा कि उन्होंने हमें आध्यात्मिक सूर्य की उपासना के विषय में साम्बपञ्चाशिका तो पढ़ाई है किन्तु बाह्य सूर्य की आराधना हमें कैसे करनी चाहिए। मेरे द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर गुरुदेव ने मुझे बाह्य सूर्य के १०८ नाम तथा कार्तिकेय - कुमार जी के ५१ शुभ नाम लिखवाये, जो उन्हें कंठस्थ थे।

उस पूर्व स्मृति की प्रत्यभिज्ञा का अनुभव होने से पाठकजन भी लाभान्वित होंगे। ऐसी धारणा है।

सूर्यदेवता के 108 नाम

१. सूर्यः, २. अर्यमा, ३. भगः ४. त्वष्टा, ५. पूषा, ६. अर्कः, ७. रवि, ८. गभस्तिमान, ९. अतः, १०. कालः,

११. मृत्युः, १२. भ्राता, १३. प्रभाकरः, १४. पृथ्वी, १५. जल, १६. तेज, १७. वायु, १८. आकाश, १९. स्वरूप, २०. सोमः, २१. बृहस्पति, २२. शुक्लः, २३. बुधः,२४. मंगलः, २५. इन्द्रः, २६. विवस्वान, २७. दीप्तांशु, २८. शुचि, २९. सौरि, ३०. शनैश्चरः, ३१. ब्रह्मा, ३२. विष्णुः, ३३. रुद्रः, ३४. स्कन्दः, ३५. यमः, ३६. वैद्युत, ३७. अग्नि ३८. तेजस्पति, ३९. धर्मध्वज, ४०. वेदकर्ता, ४१. वेदांग, ४२. वेदवाहन, ४३. सत्य, ४४. त्रेता, ४५. द्वापर, ४६. कलि, ४७. काला, ४८. काष्ठा, ४९. मुहूर्त, ५०. क्षपा, ५१, यामः, ५२. क्षण ५३. संवत्सरः, ५४. अश्वथ, ५५. कालचक्र, ५६. विभावसु, ५७. शाश्वत, ५८. पुरुष, ५९. योगी, ६०. व्यक्त, ६१. अव्यक्त, ६२. सनातन, ६३. कालाध्यक्ष, ६४. प्रजाध्यक्ष, ६५. विश्वकर्मा, ६६. तमोनुद, ६७. वारुण, ६८. सागर, ६९. अंश, ७०. जीमूत, ७१. जीवन, ७२. अरिहा, ७३. भूताश्रेय, ७४. भूतपति, ७५. सर्वलोक-नमस्कृत, ७६. स्पष्टा, ७७. संवर्तकः, ७८, वह्नि, ७९. सर्वादि, ८०. अलोलुपः, ८१. अनन्त, ८२. कपिलः, ८३. भानु, ८४. कामद, ८५. सर्वतोमुख, ८६. शयः, ८७. विशालः, ८८. वरदः, ८९. सर्वसाधु, ९०. निषोचिता, ९१. मनः, ९२. सुपर्णः, ९३. भूतादि, ९४. शीघ्रग, ९५.

प्राणधारकः, ९६. धन्वन्तरी, ९७. धूम्रकेतु, ९८. आदिदेव, ९९. अदितिपुत्र, १००. द्वादशात्मा, १०१. अरविन्दाक्ष, १०२. माता, १०३. पिता, १०४. पितामहस्वरूप, १०५, मोक्षद्वार, १०६. देहकर्त्ता, १०७. मैत्रेय, १०८, इन्द्रः॥

कार्तिकेय जी के नाम

१. आग्नेय स्कन्द, २. दीप्तिकीर्ति, ३. अनामय, ४. मयूरकेतु, ५. धर्मात्मा, ६. भूतेश, ७. महिषमर्दन, ८. कामजिद्, ९. कामद, १०. कान्त, ११. सत्यवाक्, १२. भुवनेश्वर, १३. शिशु, १४. शीघ्र, १५. शुचि, १६. चण्ड, १७. दीप्तवर्ण, १८. शुभानन, १९. अमोघ, २०. अनघ, २१. रौद्र, २२. प्रिय, २३. चन्द्रानन, २४. दीप्तशक्ति, २५. प्रशान्तात्मा, २६. भद्रकृत, २७. कूटमोहन, २८. षष्ठीप्रिय, २९. धर्मात्मा, ३०. पवित्र, ३१. मातृवत्सल, ३२. कन्यभर्त्ता, ३३. विभक्त, ३४. स्वहेय, ३५. रेवतीसुत, ३६. प्रभु, ३७. नेता, ३८. विशाख, ३९. नैगमेय, ४०. सुदुश्चर, ४१. सुव्रत, ४२. ललित, ४३. बालक्रीडनकप्रिय, ४४. खचारी, ४५. बह्मचारी, ४६. शूर, ४७. शंखणोद्भव, ४८. विश्वामित्रप्रिय, ४९. देवसेनाप्रिय, ५०. वासुदेवप्रिय, ५१. प्रियकृत॥

त्रिंक - मार्ग के शैवी साधकों के हितार्थ गुरुवर्य श्री ईश्वर - स्वरूप जी महाराज का आदेश।

१. भगवान् के प्रति निश्चल भक्ति तथा राग का होना। राग की तीव्रता होने से विषयों के प्रति वैराग्य स्वतः होगा।

२. मानसिक पूजा को ही सर्वोपरि मानना।

३. बाह्य-पूजा आदि आडम्बरों को उसी सीमा तक निभाना, जहाँ तक मन की सावधानता बनी रहे।

४. सदा अभ्यास-परायन रहना।

५. व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़कर अमूल्य समय को न खो देना।

६. भूत, भविष्यत् समय का विचार न करके सदा वर्तमान में रह कर सावधान रहना।

७. लोगों के व्यवहार में टांग न अड़ाकर अपना अनुसंधान बनायें रखना। यही वास्तविक यज्ञ है।

८. शैवी-ग्रन्थों का अवलोकन व मनन करते रहना।

९. शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दिन को थोड़ी देर के लिए विश्राम ले लेना। न कि रात की भांति तीन चार घंटे सोना।

१०. गुरु-जनों तथा अद्वैत - शास्त्रों पर अटल विश्वास तथा आदर का होना।

११. भोजन करते हुए बातें न करना। इसे भगवान के प्रति आहुति समझ कर अति प्रेम तथा एकाग्रता-पूर्वक भोजन करना।

१२. सैर करते हुए भी किसी से वार्तालाप न करना। पांव के प्रति कदम पर ध्यान रखते हुए, मध्य-अनुसंधान बनाये रखना।

१३. विश्व को शिव-मय देखकर किसी के प्रति राग-द्वेष का न होना।

१४. अपने मन का संतुलन बनाये रखना। मन की चेष्टाओं को देखते रहना। देखना भी अभ्यास ही है।

१५. अभ्यास करते हुए मन ऊब जाये तो मानसिक जप करना। इससे अन्त:करण शुद्ध होते हैं।

१६. सभी संतों, विद्वानों और महापुरुषों के सामने शीष झुकाना। उन में भी अपने गुरु-महाराज का रूप देखना। शीष झुकाने से देहअभिमान कम हो जाता है।

१७. सभी से प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करना। स्मरण रहे सभी शरीरों में भगवान् ही वास कर रहे हैं।

१८. स्वादिष्ट, शुद्धसात्विक भोजन करना। मांसाहारी न बनना। किसी भी प्राणि का वध करना अति पाप है।

१९. मादक पदार्थो का सेवन न करना। इससे शरीर बिगड़ जायेगा और अभ्यास न हो सकेगा।

२०. रात को दस बजे सोना और प्रातः चार बजे जगकर प्रभु के अभ्यास में तल्लीन बनना।

२१. यदि नेत्र बन्द करके संकल्प-विकल्प आते रहें तो नेत्र खोल कर ही अभ्यास करना। ऐसा करने से संकल्प-विकल्प रूपी चोर फटक नहीं सकेंगे।

२२. किसी के साथ भी गहन संबन्ध न बनाना। विश्व की नश्वरता सदा स्मरण रखना।

२३. घर, गृहस्थी का पालन प्रेम से करना। इसे झंझट तथा

माया का रूप न समझ कर, इस से दूर रहने का संकल्प न करना। इस को निभाते हुए ही अपना अभ्यास बनाये रखना।

२४. किसी के गुण, अवगुन न देखकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा उद्यत् रहना।

२५. गुरु भाइयों, गुरु-बहनों से अधिक संबन्ध न जोड़ कर, गुरुवर्य के उपदेशों का अनुसरण करते रहना। यही सफलता की चाबी है।

ॐ

थियोसफिकल सोसाइटी (एक अंतर्राष्ट्रीय आध्यात्मिक संस्था) के मंच पर टीचर ट्रेनिंग कॉलेज के हाल में ३० जून

१९७५ को

महाराज जी का भाषण :-

हम इस विश्व में उत्पन्न हुए हैं कभी आप ने इस पर विचार भी किया है कि हमने किस लिए जन्म लिया है। क्या हमारा इतना ही प्रयोजन यहां आने का है कि हम उत्पन्न हों, बालकावस्था को प्राप्त करें। तदनन्तर स्कूल तथा कॉलिज में जाकर विद्यार्जन करें। तत्पश्चात् विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करें। प्रभूतमात्रा में धन कमायें और उस के बाद समय आने पर ऐसे मरें जैसे एक कुत्ता मरता है

तथ्य दृष्टि से यह हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। स्वात्मसाक्षात्कार करना ही हमारा पार्यन्तिक लक्ष्य है। इस की प्राप्ति कैसे होगी इस विषय पर हमारे काश्मीर शैव-शास्त्रों ने पूर्णरूपतया प्रकाश डाला है। इस दर्शन में तीन प्रकार के उपायों का अभ्यास कहा गया है, जिन से

स्वात्म-दर्शन की प्राप्ति होती है। पहिला आणवोपाय, दूसरा शाक्तोपाय और तीसरा शांभवोपाय कहे गये हैं। साधारण कोटि के बुद्धि- कोष से युक्त साधक के लिए आणवोपाय का अभ्यास कहा गया है। इस प्रमेय जगत में सब से सूक्ष्म तथा पवित्र प्राण माना जाता है।

अत: आणवोपाय के साधक को प्राणों का अभ्यास करना चाहिये। नि:श्वास तथा उश्वास का ध्यान करते हुए इस के मध्य, जैसा कि गुरुदेव ने कहा हो उस पर एकाग्रता करने से यह साधक प्राणकुंडलिनी का साक्षात्कार करता है। प्राण कुण्डलिनी का लक्षण हमारे शैव-शास्त्रों ने अन्य शास्त्रों से एकदम भिन्न रूप से निर्णय किया है। अन्य शास्त्रों में मूलाधार से लेकर सहस्रार स्थान तक छ: चक्रों का रूप कमल की आकृति का कहा है किन्तु शैव-योगी इन चक्रों का साक्षात्कार ठीक, चक्रों के रूप में ही करता है।

प्राणकुंडलिनी के उदय होने पर उसे प्रथम मूलाधार का चक्र अति तीव्र वेग से घूमता हुआ अनुभव में आता है, इस के पश्चात् नाभि का चक्र और मुलाधार दोनों चक्र चलते हुए अनुभव में आते हैं। इस के साथ ही क्रमश: हृदय -चक्र

तदनन्तर कंठ-चक्र और फिर भ्रूमध्य-चक्र जिसे आज्ञा-चक्र भी कहते हैं जो दो भोंहों के मध्य में अवस्थित है, इस भांति पांचों चक्र एकबारगी अति तीव्र वेग से चलते हुए अनुभव में आतेहैं और फिर सहस्रार चक्र में जाकर इस का प्राणापान तद् रूप हो जाता है। यह अनुभव ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई यन्त्रगृह की मशीनें तीव्र गति से चल रही हों। आश्चर्य यह है कि इन चक्रों के चलने की ध्वनि भी साधक अनुभव करता है। यह रही आणवोपाय की सिद्धि।

शक्तोपाय की धारणा उन साधकों के लिए कही गई है जिन का बुद्धि-कोष आणवोपाय के साधकों से किसी अंश में विकसित माना जाता है। इस उपाय को यदि मध्य अन्वेषक उपाय भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। यहां दो पदार्थों का मध्य, बात करते हुए दो वाक्यों का मध्य, चलते हुए दो पगों का मध्य, इसी भांति किन्हीं दो पदार्थों के मध्य स्थान पर एकाग्रता का अभ्यास करना शाक्तोपाय कहलाता है। शाक्तोपाय की उपासना करने से साधक को चित् कुंडलिनी का साक्षात्कार होता है। इस के विषय में मेरी एक पुस्तक सीक्रेट -सुप्रीम है, ध्यान रहे अन्य शास्त्रकारों ने जो

कुंडलिनी का रूप सर्पाकार पूर्वक निर्णय किया है, वैसा शैवी योगियों का अनुभव नहीं है। कुंडलिनी का साक्षात्कार यहां चक्रों के रूप में ही होता है। हाँ तो इस शक्तिकुंडलिनी का अनुभव शाक्तोपाय के साधक को प्राण-कुंडलिनी के अनुभव से भिन्न होता है। इस में षट-चक्रों को स्पर्श किए बिना ही प्राण सीधे सहस्रार चक्र में जाकर विश्वव्यापक चेतनता का अनुभव करते हैं।

शांभवोपाय का साधक जो पूर्णरूप से चेतनता पूर्ण सजगता में अहर्निश रहता है या दूसरे शब्दों में कहें कि जो प्रमातृ भाव पर ठहर कर ही सभी व्यवहार करता है उसे परा कुंडलिनी का साक्षात्कार होता है। इस उत्तमोत्तम योगी को, पराकुंडलिनी का अनुभव न तो प्राणकुंडलिनी और नहीं चित्-शक्ति कुंडलिनी की भांति प्राणों का आधार लेकर होता है। अपितु विश्वव्यापक चेतनता के साथ इस का ऐक्य हो जाता है। इस उपाय को वास्तव में उपाय नहीं कह सकते हैं। यह तो बिना जप के जप है, सुनने के बिना सुनना है तथा विकल्प रहित निर्विकल्प-धाम में प्रविष्ट होना है। इस उत्तमोत्तम बुद्धिकोष से युक्त योगी के विषय में भगवान

शंकर कहते हैं कि - स योगी मत्समा प्रोक्ता अर्थात् मन्त्रवीर्य प्रकाशक वह योगी ठीक मेरे जैसा ही विश्वव्यापक सत्ता से युक्त है।

शांभवोपाय के साधक के निर्णय के साथ ही यह विषय समाप्त हो रहा है। अन्य किसी दिन शैव-शास्त्र की रहस्यमय गुत्थियों को पुन: टंटोल कर आप श्रोतागणों के सम्मुख उन पर व्याख्यान देंगे।





अधिकतम खुदरा मूल्य 90/- रु०
(सभी कर सहित)

मुद्रक : विंग्स प्रिंटर्स, फरीदाबाद, हरियाणा

आचार्य उत्पलदेव कृत

ईश्वर - प्रत्यभिज्ञा

के श्लोकों का हिन्दी अनुवाद

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा - चन्द्रिका

-: अनुवादिका एवं सम्पादिका :-

प्रभा देवी

-: प्रकाशक :-

काश्मीर शैव त्रिक-मठिका (न्यास)